भाषाकी शिक्षा

उसकी समस्याएँ, समाधान और शिक्षण-विधियाँ

लेखक—

काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालयके टीचर्स ट्रेनिंग कौलेजमें
भाषा-शिक्षण-शास्त्रके आचार्य
साहित्याचार्य्य पण्डित सीताराम चतुर्वेदी 'हृदय'
एम्० ए० (संस्कृत, हिन्दी, पाली तथा प्राचीन इतिहास और संस्कृति), बी० टी०, एल् एल्० बी०

तथा

पण्डित शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', एम्० ए०

प्रकाशक—

हिन्दी-साहित्य-कुटीर,

बनारस

गणेशचतुर्थी, संवत् १९९६ विक्रमीय

प्रकाशक—

द्वारकादास, हिन्दी-साहित्य-कुटीर,

बनारस ।

प्रथम संस्करण

मूल्य दो रुपये

मुद्रक—

कृ. ब. पावगी, हितचिन्तक प्रेस,

रामघाट, काशी : ४१९७ ८

परिचय

प्रत्येक अध्यापकको भाषा-शिक्षणका ज्ञान अवश्य होना चाहिए। जब तक उसे यह ज्ञान नहीं होगा तब तक वह ठीक शिक्षा नहीं दे सकता। वह छात्रोंकी भलाई करनेके बदले उल्टे उनका जीवन नष्ट करेगा। मनोविज्ञानके अध्ययन और मननके पश्चात् शिक्षा-शास्त्रियोंने शिक्षाके सभी क्षेत्रोंमें बहुतसे आवश्यक परिवर्त्तन सुझाए हैं। भारतीय भाषाओंके शिक्षकोंको भी चाहिए कि वे आजकलके नये प्रयोगोंका सहारा लेकर अपने पढ़ानेके ढंगको सुधार लें क्योंकि इस प्रकार जो शिक्षा दी जायगी वह निःसन्देह उपयोगी होगी।

योरोपीय देशोंने भाषा-शिक्षण पर जो साहित्य निर्माण किया है उसका विशेष संबंध उनकी भाषा, संस्कृति और उनके इतिहाससे ही रहा है किन्तु फिर भी उनमें बहुत सी ऐसी बातें हैं जो संसारकी सभी भाषाओंके शिक्षणमें समान रूपसे उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं। हमारे देशमें भी भाषा-शास्त्र और भाषा-शिक्षण-प्रणालियों पर वैदिक तथा उत्तर वैदिक साहित्यमें विस्तारसे विचार किया गया है किन्तु कई कारणोंसे उसका विकाश रुक गया। हम उन कारणों पर यहाँ विचार नहीं करना चाहते न यहाँ उसका अवसर ही है किन्तु है यह बात नितान्त सत्य। हमारे देशके संस्कृत तथा अन्य भाषाओंके अध्यापक नई खोजों और नये प्रयोगोंसे सदा दूर रहते चले आए हैं। यदि हम लोग चाहें कि हमारी भाषा और उसके पढ़ानेकी प्रणालीका भविष्य उज्ज्वल हो तो हमें चाहिए कि न केवल योरोपीय प्रयोगोंका लाभ उठावें वरन् अपने देशकी प्राचीन संस्कृति और शिक्षाप्रणालीका भी पुनरुद्धार और विकाश करें।

हमारे देशमें पिछले लगभग सौ वर्षोंसे अँगरेजीने अध्यापकों तथा शिक्षा-शास्त्रियोंके मन पर ऐसा प्रभुत्व जमा रक्खा है कि उसीके विस्तार और विकासकी चिन्तामें ही वे पड़े रहते हैं। ठीक भी था क्योंकि अँगरेजीमें ही स्कूलके सब विषय पढ़ाए जाते थे, कचहरीमें उसीका राज था, राष्ट्र-सभामें भी अँगरेजीमें ही काम होता था और साधारण व्यवहारमें भी अँगरेजीका ही बोलबाला था। अँगरेजीकी

इस धाकके कारण अँगरेजी सिखानेकी न जाने कितनी पद्धतियाँ चल निकलीं और कितना साहित्य रचा गया। पर हर्षकी बात है कि वे दिन बदल गए और जल्दी जल्दी बदल रहे हैं। लोगोंका ध्यान मातृ-भाषाकी ओर जा रहा है, उसका आदर होने लगा है। अँगरेजी धीरे धीरे हटने लगी है और उसका स्थान मातृ-भाषाएँ धीरे धीरे ले भी रही हैं। अतः स्वभावतः हिन्दी भी हिन्दी प्रान्तोंमें अपना स्थान पाती जा रही है।

किन्तु हिन्दीको केवल एक प्रान्तवालोंकी मातृभाषा माननेकी भूल न करनी चाहिए। हिन्दी वास्तवमें भारतकी राष्ट्र-भाषा, अन्तःप्रान्तीय भाषा तथा 'लिंग्वा फ्राङ्का' होने जा रही है। आज भी भारतके किसी भी प्रदेशमें हिन्दी जाननेवाला अपना काम अच्छी तरह चला सकता है। अब भी वही समूचे भारतकी बोली है और इस देशकी दो तिहाईसे अधिक जनता इसी भाषाको बोलती, लिखती या समझती है। अतः जिन ग्रन्थोंकी रचना भारतकी इस राष्ट्र-भाषामें, अन्तःप्रान्तीय भाषामें, 'लिंग्वा फ्राङ्का' में होगी वह रचना भारतके किसी एक प्रदेशकी ही जनताके लिये हितकारी न होकर सारे भारतीय जन-साधारणके लाभकी होगी।

वर्त्तमान नवीन शिक्षा-सुधार-योजनाके अनुसार अँगरेजी पढ़ना-पढ़ाना आठ नौ वर्षकी अवस्थासे प्रारम्भ न होकर बारह वर्षकी अवस्थासे होगा। इससे पहले उसे अपनी मातृभाषामें पढ़ना होगा। इसलिये भी यह आवश्यक है

कि हिन्दीकी पढ़ाई और पढ़ानेके ढंग ठीक कर दिए जायँ जिससे आगे चलकर अँगरेज़ी सीखते समय इन्हें नई भाषा सीखनेमें सरलता हो। क्योंकि यदि कोई एक भाषा ठीक ढंगसे सीख लेता है तो उसे दूसरी भाषा सीखनेमें तनिक भी कठिनता नहीं होती।

इस ग्रन्थमें उन सभी शिक्षण-सिद्धान्तों और प्रणालियोंका समावेश किया गया है जो सर्व-मान्य हो चुके हैं। इसकी रचनामें मैंने भी अपने शिक्षा-संबन्धी ज्ञान और अनुभवका पूर्ण सहयोग दिया है। इस ग्रन्थमें जितने विषयोंका विवेचन किया गया है उतने विषय मेरे ज्ञानमें किसी एक ग्रन्थमें नहीं हैं। इसको तो भाषा-शिक्षणका कोष समझना चाहिए। इसमें केवल भाषा-शिक्षणके सिद्धान्त और उसकी प्रणाली मात्रका ही समावेश नहीं है वरन् भाषा-शिक्षकके सामने उठ खड़ी होनेवाली सभी कठिनाइयों तथा समस्याओं पर भी विस्तारसे विचार किया गया है और उन्हें सुलझानेके उपाय भी सुझाए गए हैं। भाषा-शिक्षाके जितने भी पहलू हो सकते थे उन सभी पर इस पुस्तकमें प्रकाश डाला गया है। इसमें यह भी ध्यान रक्खा गया है कि प्रत्येक सिद्धान्त मनोविज्ञान-सम्मत, तर्क-सिद्ध तथा बोधगम्य हो जिसमें प्रत्येक अध्यापक सरलतासे उसे अपना सके। यह पुस्तक उन सभी अध्यापकोंके कामकी है जो प्राथमिक कक्षाओंसे लेकर कौलेजकी ऊँची कक्षाओं तकमें भाषाकी शिक्षा देते हैं। प्रत्येक वर्गके अध्यापकको इसमें उसकी आवश्यकताके अनुसार सामग्री मिल जायगी।

इस पुस्तकके प्रणेता पण्डित सीताराम चतुर्वेदी स्वयं कई भारतीय तथा योरोपीय भाषाओंके ज्ञाता, सुयोग्य अध्यापक और शिक्षण-सिद्धान्तोंके पण्डित हैं। ये भाषा-शिक्षककी कठिनाइयोंसे तथा उनके दूर करनेकी विधियोंसे परिचित हैं। दो वर्षोंसे ये काशीके टीचर्स ट्रेनिंग कौलेजमें संस्कृत, हिन्दी तथा अँगरेजीकी शिक्षण-विधियोंकी शिक्षा योग्यतापूर्वक दे रहे हैं अतः इनकी लेखनीसे जो शिक्षण-संबंधी साहित्य निकल रहा है वह अनुभव-सिद्ध भी है।

मुझे आशा है कि ट्रेनिंग कौलेजों तथा ट्रेनिंग स्कूलोंमें भाषाकी शिक्षा देनेवाले प्रत्येक शिक्षक तथा अन्य भाषाके अध्यापक इस पुस्तकसे लाभ उठावेंगे।

गणेशचतुर्थी,
सं० १९९६ वि०
२८ जनवरी
सन् १९४० ई०

हरिकृष्णदास बूलचन्द मलकानी,
एम्० ए०, एस्० टी० सी० डी०,
प्रिन्सिपल, टीचर्स ट्रेनिंग कौलेज,
काशी-हिन्दू-विश्व-विद्यालय।

प्रवचन

कई वर्षोंसे मैं इस पुस्तकका स्वप्न देख रहा था। न जाने कितनी बार कितने रूपों, आकारों तथा नामोंको लेकर यह पुस्तक मेरी कल्पनाकी रंगशालामें आकर अपना लास्य दिखा गई किन्तु भौतिक जगतमें आ न सकी। उसके कई कारण थे। मेरे बहुधन्धी जीवनकी व्यस्तताने मेरे कल्पना-लोकके द्वार सबके लिये बन्द कर दिए थे। मेरी लेखनी न जाने कितनी बार सपरिकर सन्नद्ध हुई, कितनी बार उसने बलपूर्वक मेरे विचारोंको वन्दी करनेका प्रयत्न किया, किन्तु वह असफल रहती चली आई। मैं अत्यन्त उत्सुक होने पर भी अपनी लेखनीकी साध पूरी न कर सका।

फिर मैंने विचार किया कि यदि कोई गणेश मिले तो मैं व्यास बन जाऊँ। ग्रन्थकी सम्पूर्ण सामग्री सूत्र रूपमें सुरक्षित थी, उसका व्यास करने भरकी देर थी पर गणेश न मिल सके। गत वर्ष पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय गुरुवर महामना पंडित मदनमोहन मालवीयजीका आशीर्वाद लेकर तथा

सौजन्यमूर्त्ति श्री हरिकृष्णदास मलकानीजीका स्नेह पाकर मैं टीचर्स ट्रेनिंग कौलेज्में, भाषा-शिक्षण-शास्त्रका आचार्य्य बनाया गया, तब इस ग्रन्थका अभाव खटकने लगा। इस क्षेत्रमें अभीतक गुरुवर पं० लज्जाशंकर झा जीकी 'भाषा-शिक्षण-पद्धति' एक मात्र पुस्तक थी। उसी पुस्तकका आश्रय लेना पड़ा। उसकी प्रेरणासे अनेक नये विचार मनमें आए, अनेक समस्याएँ सामने आईं साथ ही शिक्षा-युगकी अनेक नई क्रान्तियाँ और गतियोंसे भी परिचय हुआ। अतः एक ऐसी पुस्तकके निर्माणकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी जो भाषा-शिक्षककी सब कठिनाइयोंका समाधान कर सके और उसको शिक्षण-शास्त्रसे भली प्रकार परिचित करा सके। फिर एक बार लेखनी जाग उठी किन्तु जागकर रह गई। ऊँघकर, जँभाई लेकर, अंग तोड़कर फिर लेट गई। मेरा क्या वश था।

किन्तु भावना प्रबल थी। जेठकी बनारसी गर्मीकी एक मंगलमयी सन्ध्याको संयोगवश पंडित शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' जीसे भेंट होगई। मैंने उनसे अपनी विवशता कह सुनाई। उन्होंने गणेश बनना स्वीकार किया। रुद्रसे गणेश बननेमें उन्हें कितना बड़ा त्याग करना पड़ा यह तो प्रत्येक साहित्यिक समझ सकता है किन्तु मेरे लिये उन्होंने यह महात्याग भी स्वीकार कर लिया। रुद्र गणेश बने और पुस्तकका श्रीगणेश होगया। नित्य संध्याको किंग-एडवर्ड होस्टलमें मैं एक-एक अध्यायका प्रवचन करता था, रुद्रजी उसे अलंकृत करके भाषा-निबद्ध करते चलते थे। धीरे धीरे

ग्रन्थ पूरा होगया। मैं उनका इसलिये विशेष कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने कृपा करके ग्रन्थके लेखकके रूपमें भी अपना नाम देनेकी अनुमति दे दी।

अब प्रकाशककी खोज होने लगी। मैं अनेक प्रकाशकोंको आँक चुका था। मैं चाहता था सच्चा, सज्जन तथा समझदार प्रकाशक। इधर उधर आँखें दौड़ाई। अन्तमें जिन खोजा तिन पाइयाँ। राजाबाबू (श्री द्वारकादास) मिल गए और उन्होंने झट प्रकाशनका भार ले लिया।

पुस्तक छपाईके लिये दे देने पर प्रिंसिपल मलकानीजीने अनेक नये संशोधन और नये विचार सुझाए। मुझे भी यह बात जँची कि पुस्तक निकले तो सर्वांगपूर्ण होकर। ऐसा न हो कि कोई विषय छूट जाय। अब मेरी लेखनी भी गतिशील हो चली और जितना ग्रन्थ लिखा जा चुका था उतना ही मैंने और बढ़ा दिया। पुस्तक छपने लगी और जैसे जैसे वह छपती चलती वैसे ही वैसे नये नये विचार आते चलते थे। पुस्तक हनुमान जीकी पूँछकी तरह बढ़ती चली जा रही थी। मेरे प्रूफ़-संशोधनको देख-देखकर प्रकाशक और मुद्रक दोनों खीझते थे किन्तु और कोई चारा न था। पुस्तक बढ़ती गई, बढ़ती गई, पर अनन्त तो थी नहीं, आज समाप्त हो गई। जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास जीने—

'नाना पुराणनिगमागमसंमतं यत्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोपि॥'

—अनेक पुराण, शास्त्र और वेदका मत लेकर तथा और भी स्थानोंसे जो प्राप्त हुआ उसे रामायणमें कह

डाला है, उसी प्रकार भाषा-शिक्षण-शास्त्रके सभी प्राप्य ग्रन्थों-को मथकर हमने सामग्री ले ली और उसे अपने अनुभवसे सिद्ध करके इस पुस्तकमें ला रक्खा है। मुझे विश्वास है कि भाषा-शिक्षककी प्रत्येक जिज्ञासा इस ग्रन्थसे तृप्त हो सकेगी।

मैं गुरुवर प्रिंसिपल मलकानीजीका अत्यन्त आभारी हूँ, क्योंकि उन्होंने बड़ी कृपा करके इसके लिखनेमें सहायता दी और भूमिका लिखकर मुझे कृतज्ञ किया।

नागरीमें ध्वनितत्त्वके विषयमें जो पहले लिखा गया था उसमें हमारे मित्र क्वीन्स संस्कृत कौलेजके अध्यापक पंडित करुणापति त्रिपाठी एम्०ए०, साहित्यशास्त्री, व्याकरणाचार्यने कुछ परिवर्द्धन करके उक्त अध्यायको अधिक स्पष्ट कर दिया है। अतः मैं उनका भी अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

मेरे प्रकाशक मित्र राजाबाबूने जिस लगन और दौड़-धूपसे इस पुस्तकको शुद्ध तथा मनोहर बनानेका प्रयास किया है उसके लिये वे अधिक धन्यवादके पात्र हैं।

पुस्तकमें सब ज्ञातव्य विषयोंका समावेश करदेने पर भी कुछ छूट गए होंगे, अनेक स्थानों पर छापेकी भूलें भी रह गई होंगी, फिर हम सर्वज्ञताका दम भी नहीं भरते, ऐसी स्थितिमें हमें आशा है कि पाठकगण हमें हमारी त्रुटियों तथा भूलोंको सुझानेकी कृपा करेंगे।

गणेशचतुर्थी
सं० १९९६ वि०

सीताराम चतुर्वेदी

विषय-सूची

१—भाषा और उसकी शिक्षाके उद्देश्य पृष्ठ १-१२

भाषासे मानव जातिका लाभ—भाषाकी उपयोगिता—पढ़ने-लिखनेमें भाषाका उपयोग—लिखने और बोलनेमें निरालापन—भाषा-शैलीमें हमारी आत्मप्रियताका स्थान—भाषामें मधुरता—भाषामें सौन्दर्य्य-भावनाकी तृप्ति—भाषा-शिक्षणका उद्देश्य—भाषा-शिक्षणकी दृष्टिसे भाषाओंका वर्गीकरण—प्राचीन भाषासे तात्पर्य्य—संस्कृति-भाषासे तात्पर्य्य—मातृभाषाका अर्थ—मातृभाषाकी शिक्षाका उद्देश्य—राष्ट्रभाषा हिन्दी—राजभाषा अँगरेजी—विदेशी भाषाएँ—हिन्दीकी व्यापकता—हिन्दी और हिन्दुस्तानी—उर्दूकी कहानी—नागरी और खड़ी बोली—नागरी भाषा—परिणाम।

२—नागरी भाषाका ध्वनि-तत्त्व १३-२६

मूल ध्वनियाँ—स्वर और व्यञ्जन—शब्दोच्चारणकी प्रक्रियाएँ—उच्चारणपर भौगोलिक प्रभाव—हमारी भाषापर विदेशी ध्वनियोंका प्रभाव—नागरी ध्वनियोंके उच्चारणमें भ्रम—कुछ भूली हुई ध्वनियाँ—सन्ध्यक्षर—ह्रस्व उच्चारण—राजशेखर और उच्चारणोंका सूक्ष्म निरीक्षण—अनुस्वारका प्रयोग—अनिश्चित उच्चारणोंका निश्चय।

३—शुद्ध उच्चारणकी महत्ता और शिक्षा २७-३७

ध्वनिके साधक स्वरयंत्र—शब्दोच्चारणकी शिक्षा—पाणिनि और याज्ञवल्क्य—उच्चारणके छः गुण और छः दोष—

पढ़नेवालोंके गुण-दोष—स्वर और वर्णोंकी शिक्षा तथा प्रभाव—बोलने और लिखनेमें उच्चारण-संबंधी अशुद्धता—शुद्ध उच्चारणकी तीन विधियाँ—प्रारम्भिक कक्षाके विद्यार्थीको उच्चारणका अभ्यास—माध्यमिक कक्षामें उच्चारण-संशोधनकी छः विधियाँ—उच्चारण-समस्याका समाधान।

४—बोलचालकी शिक्षा ३८-४५

मनुष्यकी सामाजिकता—व्यवहारमें बोलचालका महत्त्व—लिखने और बोलनेमें अन्तर—भाषाकी शुद्धता—शब्दोंका समुचित चुनाव—स्वाभाविक बोलचाल—वाणीमें मधुरताकी आवश्यकता—भाषण-पटुताके चार साधन—उक्त साधनोंका प्रयोग।

५—लिपिकी समस्या ४६-५७

भाव प्रकट करनेके तीन साधन—प्रागैतिहासिक युगमें लिपिका अभाव—लिपि और चित्र-रचना—मुद्रण यन्त्रोंका आविष्कार और लेखन-कलाका ह्रास—घसीट लिपि—राष्ट्रीय लिपिकी समस्या—लिपियोंमें विकास-संबंधी क्रम—नागरी लिपिकी वैज्ञानिकता—डौक्टर सुनीतिकुमार चटर्जीके संशोधनकी निस्सारता—अन्य लिपियोंसे नागरीकी तुलना—नागरी लिपिकी सर्वोत्कृष्टता।

६—देवनागरी लिपि ५८-६३

वैज्ञानिक लिपिके पाँच गुण—शब्दोंकी एकरूपतामें शिरोरेखाका महत्त्व—नागरी लिपिमें परिवर्त्तनके प्रयत्न और उनकी व्यर्थता—नागरी अक्षरोंकी परम्परा—नागरीमें मुद्रण-संबंधी कठिनाईके भ्रमका निराकरण।

७—अक्षर-रचनाकी शिक्षा ६४-६६

शुद्ध लिखावटकी चार आवश्यकताएँ—बैठने और कलम पकड़नेका ठीक ढंग—अक्षरोंका ललित विन्यास और सुडौलपन—लिपिमें कुशलता प्राप्त करनेके तीन उपाय—अनुलिपि, प्रतिलिपि और अनुलेखन—ललित लेखनके अन्य तीन उपाय—लिखावटका व्यावहारिक पहलू—व्यापक अशुद्धियाँ और उनका परिष्कार।

८—पढ़ना सिखानेकी समस्याएँ तथा विधियाँ ७०-७८

लिखने-पढ़नेमें पारस्परिक अन्तर—पढ़नेमें मनोवैज्ञानिक सरलता—पठन-शिक्षामें अध्यापकका कर्त्तव्य—पठन-शिक्षाकी आवश्यकता—पढ़ना सिखानेकी सात विधियाँ—प्रत्येक विधिका व्यावहारिक महत्त्व—सुन्दर पठनके दस सुनहरे नियम—सस्वर तथा मौन पाठ।

९—रचना-शिक्षणके उद्देश्य और उसकी समस्याएँ ७९-८६

रचना-शिक्षणकी आवश्यकता—लिखनेके पूर्व विचारणीय बातें—रचना-शिक्षणके उद्देश्य—शुद्ध भाषाकी परिभाषा—नागरी रचनाकी समस्याएँ—विभक्ति—शब्दोंके दुहरे रूप—लिङ्ग-समस्या—सङ्केत-चिह्न—लेखनी—अनुनासिक चिह्न।

१०-रचनाके विभिन्न स्वरूप और उनकी शिक्षण-विधियाँ ८७-१०१

रचनाकी आवश्यकता—उसकी परिभाषा—रचना-शिक्षणकी आठ विधियाँ—विधियोंकी विस्तृत व्याख्या—रचनाकी व्यवस्था—चित्रवर्णन—द्वितीय अवस्था, कथाकहानी—मौखिक और लिखित रचना—तीसरी अवस्था, अनुच्छेद-

रचना, दिनचर्य्या, मुहावरा, शीर्षक—चौथी अवस्था, पत्र, समाचार, विज्ञापन, आत्मचरित—पाँचवीं अवस्था, निबंध, जीवनी, आत्मकथा आदि—छठी अवस्था, लिखित रचनाकी पूर्णता—रचना-शिक्षणमें सुविधा।

११-शैली तथा रचनामें कुशलता प्राप्त करनेके उपाय १०२-१०७

रचनामें भाषाका महत्त्व—भाषा और शैली—अभिव्यक्ति—शैली और शक्ति—शैली, विषय और भाषा—शब्दार्थ और शब्दभेद—शैलीके विविध पहलू—लेखकोंकी कसौटी अभ्यासके लिये प्रश्न।

१२—व्याकरणकी शिक्षा (४) १०८-१२३

भाषामें व्याकरणकी आवश्यकता—व्याकरणका आतंक और संस्कृत व्याकरण—हिन्दी भाषाका उद्गम, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश—शब्द-निर्माण—लिङ्गनिर्णयकी तीन प्रणालियाँ और अपवाद—'ने' का प्रयोग—व्याकरण-शिक्षाकी पाँच प्रणालियाँ—प्रत्येक प्रणालीकी व्याख्या—नागरीमें वाक्यविश्लेषण और पदच्छेद—व्याकरण-शिक्षाका अवसर—भाषामें चमत्कार और मुहावरे—भाषा और भाव—शब्द-शक्तियाँ—मुहावरोंकी उत्पत्ति—मुहावरेकी परिभाषा और उपयोग—मुहावरोंकी शिक्षण-व्यवस्था—मुहावरोंका अनुवाद।

१३—पाठ्य-पुस्तकोंका निर्माण १२४-१४१

मौखिक शिक्षाकी परम्परा—शिक्षा-व्यवस्थामें पुस्तकोंका समुचित चुनाव—पुस्तकोंके चुनावमें अध्यापकोंकी उपेक्षा

और उसका दुष्परिणाम—प्रकाशकोंकी मनमानी—पाठ्य पुस्तक बनानेके अठारह नियम—पाठ्य पुस्तकोंमें सरलता, मनोरञ्जकता तथा चरित्र-निर्माणकी शक्ति—पाठ्य-पुस्तकोंका उद्देश्य—शैलियोंसे परिचय—पाठ्य पुस्तकोंके चुनावमें बालकोंकी मानसिक अवस्था—पाठ्य पुस्तकमें प्रयुक्त विषय—गद्य और पद्य—पद्य-संग्रहमें विचारणीय बातें—पाठ्य पुस्तकमें अवांछनीय बातें—पाठ्य पुस्तककी भाषा—पाठ्य पुस्तकके निर्माणकी त्रुटियाँ—पाठ्य पुस्तक और विविध विषय—पाठ्य पुस्तकका सम्पादन—अभ्यासार्थ प्रश्न—पुस्तकोंकी छपाई।

१४-शिक्षाशास्त्रके कुछ सिद्धान्त और उनकी व्याख्या १४२-१५१

रूढ़ि और वातावरण—शिक्षामें अनुकरण-वृत्ति—विश्लेषण और संश्लेषण प्रणालियाँ—उनकी विस्तृत व्याख्या।

१५-पाठ्य पुस्तकोंके द्वारा शिक्षाका विधान १५२-१६५

पाठ्य पुस्तकोंका अनुचित महत्त्व—अध्यापककी विवशता—पाठ्य पुस्तकोंके गद्य पाठ—उनके नौ प्रकार—गद्य पाठके उद्देश्य—पाठ्य विषयोंके विशेष उद्देश्य—पाठ्य-विधियोंका निरूपण—हरबार्ट-पाठन-प्रणाली—हरबार्टीय पञ्चाङ्ग पद—सस्वर और मौन पाठ—भाव-परीक्षा—आत्मीकरण—संचित ज्ञानके आधारपर नवीन ज्ञान प्राप्त करनेकी विधियाँ—ज्ञान-प्राप्तिके अवांछनीय साधन—मौखिक प्रणाली—पाठन विधियाँ—सिद्धान्त-निरूपणकी दो अवस्थाएँ—गद्य पाठके पाठ-सूत्र।

१६-कविता पढ़ानेके उद्देश्य और उसकी शिक्षणविधियाँ १६६-१८८
पद्य और कवितामें अन्तर—कविताकी विविध परिभाषाएँ और उनकी आलोचना—मम्मट, वामन, भामह, दण्डी जगन्नाथ, विश्वनाथ, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, कीट्स—छन्दोबद्ध रचनाओंकी तीन श्रेणियाँ और उनका पाठनक्रम—गद्य और पद्यकी शिक्षामें अन्तर—कविता-शिक्षणकी गीत तथा अभिनय-प्रणाली—उद्देश्य और विधि—अर्थबोध-प्रणालीके त्यागकी आवश्यकता—व्याख्या-प्रणाली—खण्डान्वय प्रणाली—व्यास-प्रणाली—भाषा और भाव—व्यापक ज्ञानकी आवश्यकता—तुलना-प्रणाली तथा तुलना-विधिमें अन्तर—समीक्षा-प्रणाली—गद्य और पद्यके-पाठन-क्रममें अन्तर।
१७—अलंकार, पिङ्गल तथा रसकी शिक्षा १८९-१९६
शब्द-शक्ति—अभिधा, लक्षणा, और व्यंजना—अलङ्कारोंका बाहुल्य तथा उन्हें कम करनेकी आवश्यकता—पिङ्गल—कवितामें छन्दका महत्त्व—छन्द-शिक्षणकी दोषपूर्ण रीति—गणके स्वरूप और प्रभाव—रस और छन्द—रस।
१८—काव्यमें रुचि उत्पन्न करनेके अन्य साधन १९७-२०४
कविता-पाठ—शिक्षा और कविताके उद्देश्योंमें समानता—मानव-जीवनमें कविताका स्थान—काव्याभ्यासके कुछ साधन—अन्त्याक्षरी—समस्यापूर्ति—कविसम्मेलन।
१९-नाटक पढ़ानेके उद्देश्य तथा उसकी शिक्षणविधि २०५-२१२
नाटककी परिभाषा—प्राचीन भारतमें नाट्यकला—नाटक-शिक्षाके तीन उद्देश्य—उद्देश्यपूर्त्तिके साधन—नाटक पढ़ानेकी चार रीतियाँ—नाटकका पाठ्य-क्रम—परिचय, विषय-प्रवेश, अनुकरण, आवृत्ति, ज्ञातव्य।

२०–अनुवाद-शिक्षाके उद्देश्य तथा उसकी व्यवस्था २१३–२१८

अनुवादमें कठिनता—अनुवादके तीन उद्देश्य—अनुवादका अभ्यास—अनुवाद करनेकी तीन शैलियाँ—अनुवादका अनुवाद—अनुवादमें भाषा-सम्बन्धी नियम।

२१—पाठ्य-विषयोंका परस्पर सहयोग २१६–२२४

पाठ्य विषयोंमें अन्योन्याश्रय संबंध—प्राचीन विद्वानों-का ज्ञान और श्रम—लीलावती, वैद्यजीवन और रघुवश—विविध विषयोंके अध्यापकोंका पारस्परिक सहयोग और उसके साधन।

२२—पुस्तकालयकी व्यवस्था २२५–२३४

पुस्तकालयकी आवश्यकता—स्कूलमें पुस्तकालय—पुस्तकालयके पाँच विभाग—पुस्तकोंका संग्रह—अध्यापक-द्वारा पुस्तकावलोकनकी प्रेरणा—द्रुतपठनकी शिक्षण-व्यवस्था—मौन—पठनका उपयोग—पुस्तकालयका प्रबन्ध—पत्र-पत्रिकाएँ—हस्तलिखित पत्रिकाएँ—विविध विषयोंके अध्या-पक—बाहरी पत्रिकाएँ और उनका उपयोग—संग्रहालय।

२३—कुछ नवीन शिक्षा-प्रणालियाँ २३५–२४३

किण्डरगार्टन्—उद्देश्य और साधन—मौन्तेसोरी प्रणालीके सिद्धान्त—भारतमें उक्त प्रणालीकी अनावश्यकता—डाल्टन प्रयोगशालाकी योजना—विद्यार्थीकी स्वतंत्रता—ठेकेका कार्य्य और प्रणाली—प्रोजैक्ट मेथड—परिभाषा और उद्देश्य—वर्धा-शिक्षा-योजना—बेसिक और विद्यामन्दिर-योजनाके उद्देश्य—उनकी विशेषता।

२४—नागरीमें मुद्रण, टपलेखन तथा अनुद्रुत लिपि २४४—२५८

नागरी-सुधारकोंकी शिकायतें—'करन'की उपयोगिता—खण्ड और अखण्ड टाइप—टाइप-सुधारके सिद्धान्त—उनकी विवेचना—टपलेखनकी पूर्णताका उपाय—अनुद्रुत लिपिके सिद्धान्त—प्रूफ-संशोधन सीखनेकी आवश्यकता—संशोधनके चिह्न—संशोधनका नमूना—संशोधनमें क्रम।

२५—सयानोंकी शिक्षा २५९—२७१

देशमें शिक्षाका अभाव—सयानोंमें पाँच प्रकारके भाव—सयानोंकी शिक्षाकी दो प्रणालियाँ—उक्त शिक्षाकी व्यवस्था—सयानोंकी लेखन-शिक्षा—उनको भाषा-सिखानेके नियम—स्थानीय उत्सवोंकी व्यवस्था—दस दिनमें सयानोंको शिक्षा—अंधोंको पढ़ानेका विधान—ब्रेल-पद्धति।

२६—परीक्षाके उद्देश्य और उसकी व्यवस्था २७२—२७९

शिक्षामें परीक्षाका दूषण—वर्त्तमान परीक्षा-प्रणालीका कुफल—शिक्षक और निरीक्षक—शिक्षकका कर्त्तव्य—परीक्षाके सात उद्देश्य—प्राचीन भारतीय परीक्षा-प्रणाली—नवीन परीक्षा-प्रणालियाँ—परीक्षा-प्रणालियोंके उदाहरण।

२७—पाठ-सूत्रका विधान २८०—३०४

पाँचवीं कक्षाके लिये द्रुतपाठ—छठीं कक्षाके लिये व्याकरण—सातवीं कक्षाके लिये गद्य पाठ—आठवीं कक्षाके लिये रचना—नवीं कक्षाके लिये पद्य—दसवीं कक्षाके लिये नाटक।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

भाषाकी शिक्षा

उसकी समस्याएँ, समाधान और शिक्षा-विधियाँ

१

भाषा और उसकी शिक्षाके उद्देश्य

मनोगत भावोंको प्रकट करनेका सर्वोत्कृष्ट साधन भाषा है। यद्यपि आँख, सिर और हाथ आदि अंगोंके सञ्चालन द्वारा भी भाव प्रकट किए जा सकते हैं तथापि जितनी शीघ्रता, सुगमता और स्पष्टतासे भाषा भावको प्रकट करती है

उतनी सरलतासे अन्य साधन नहीं। यदि भाषा न होती तो मनुष्य पशुओंसे भी गया बीता होता क्योंकि पशु भी करुणा, क्रोध, प्रेम, भय आदि कुछ भाव ध्वनिके उतार-चढ़ावसे व्यक्त कर लेते हैं। पर ऐसा हुआ नहीं। भाषाके आविर्भावसे सारा संसार गूँगोंकी विराट् बस्ती बननेसे बच गया। ईश्वरने हमें वाणी भी दी और बुद्धि भी। हमने इन दोनोंके उचित संयोगसे भाषाका आविष्कार किया। भाषाने भी बदलेमें हमें इस योग्य बनाया कि हम अपने आन्तरिक भाव एक दूसरे पर प्रकट कर सकें, अपना दुख-सुख दूसरोंसे कह सकें और दूसरोंका दुख-सुख स्वयं सुन सकें।

परन्तु भाषाकी उपयोगिता केवल कहने-सुनने तक ही परिमित नहीं है। कहने-सुननेके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि हम जो कुछ कहना चाहते हैं वह ठीक-ठीक उपयुक्त शब्दोंमें इस तरह कहें कि सुननेवाला शब्दोंके सहारे हमारी बात ठीक-ठीक समझ जाय। ऐसा न हो कि कहें खेतकी सुनें खलिहानकी।

बोलने और समझनेके अतिरिक्त भाषाका उपयोग पढ़ने और लिखनेमें भी होता है। कहने और समझनेकी तरह लिखने और पढ़नेमें भी उपयुक्त शब्दोंके द्वारा भाव प्रकट करने और उसे ठीक ठीक पढ़कर समझनेकी आवश्यकता होती है। कहनेका तात्पर्य्य यह कि भाषाकी शिक्षा देनेका उद्देश्य मनुष्यको ठीक-ठीक बोलना, समझना, लिखना और पढ़ना सिखाना है।

इसी स्थलपर यह भी विचार कर लेना चाहिए कि

केवल ठीक-ठीक बोलने, समझने, पढ़ने और लिखनेकी योग्यता आजानेसे ही भाषा-शिक्षाका उद्देश्य पूरा नहीं होता। व्याकरणकी कड़ियोंमें कसकर शुद्ध-शुद्ध ढंगसे किसी बातको कह-सुन लेनेसे ही हमारी तृप्ति नहीं होती। हमारी आकांक्षा यह भी रहती है कि हम जो बात कहें उसका श्रोतापर प्रभाव पड़े। साथ ही हम यह भी चाहते हैं कि लिखने और बोलनेमें हमारा एक अपना निरालापन हो, हमारी एक शैली हो जिससे हम लाखोंमें अलग पहचान लिए जायँ। कहनेका तात्पर्य्य यह है कि लिखने और बोलनेपर हमारे व्यक्तित्वकी छाप पड़ी हो।

उक्त भावनाको अग्रसर और उत्साहित करनेमें हमारी आत्मप्रियता अथवा यदि खुले शब्दोंमें कहें तो हमारा अहङ्कार बराबर सहायक होता है। ऐसी स्थितिमें दूसरोंसे अपनी बात मनवानेकी अभिलाषा—'हमचुनीं दीगरे नेस्त' की प्रवृत्ति—कभी-कभी भारी बखेड़ा उपस्थित कर देती है। दूसरों पर प्रभाव डालनेके लिये जोरदार ढंगसे जब हम कोई बात कहने लगते हैं तब इसकी परवाह नहीं करते कि श्रोता हमारी बातकी चोटसे तिलमिलाता है या खिलखिलाता है। भ्रमवश हम अपशब्दों और कटु शब्दोंके प्रयोगको ही प्रभावशाली और जोरदार शैली समझ बैठते हैं। इसका परिणाम बिलकुल उलटा होता है। प्रभावके स्थानपर असद्भाव पैदा हो जाता है। बात माननेकी जगह श्रोता बात काटने लगता है।

ऐसी स्थितिमें यह आवश्यक है कि लिखते और बोलते समय कोई बात ठीक-ठीक प्रभावोत्पादक और जोरदार

शैलीमें कही जानेके साथ साथ मधुर ढंगसे भी कही जाय। वाणी उस बाणके समान होनी चाहिए जो पूरा वार तो करे किन्तु चोट खानेवाला रोने-चिल्लाने न लगे वरन् उसे निकालकर चूम ले और तड़पकर कह उठे—भाई वाह! क्या निशाना है। तात्पर्य्य यह कि बात इस ढंगसे कही जाय कि सुननेवाला उसकी कटुतापर चिढ़े नहीं वरन् उलटे उसकी कथन-शैलीपर मोहित हो जाय।

विधाताकी सृष्टिमें मनुष्य सबसे बढ़कर असंतुष्ट प्राणी है। वह आवश्यकताकी पूर्त्तिमात्रसे संतुष्ट नहीं होता। उसे भूख लगनेपर भोजन ही नहीं चाहिए बल्कि उसके भोजनमें कुछ नवीनता, कुछ स्वाद, कुछ नमक-मसाले आदि का होना भी आवश्यक है। इसी तरह धूप, वर्षा और चोर आदिसे बचनेके लिये मनुष्य घर बनाता है। पर घर बन जानेसे ही उसका काम पूरा नहीं होता। वह उसे भिन्न-भिन्न रंगोंसे रँगता है, नकाशियाँ कराता है, मेहराबें निकलवाता है। आवश्यकताकी पूर्त्तिके साथ वह अपनी सौन्दर्य-भावनाकी तृप्तिके साधन भी प्रस्तुत करता जाता है। उसकी यही प्रवृत्ति भाषाका प्रयोग करते समय भी सचेष्ट हो जाती है। मनुष्य प्रभावशाली ढंगसे, व्याकरणकी दृष्टिसे शुद्ध और मधुर भाषाका प्रयोग करनेके साथ-साथ उसमें चमत्कार तथा सौन्दर्य लानेका भी प्रयत्न करता है। उसका यह प्रयत्न उसकी उस कला-प्रियताको प्रकट करता है जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है।

अतः भाषाकी शिक्षाका उद्देश्य यह है कि हम दूसरोंकी कही और लिखी हुई बातोंको ठीक-ठीक समझ और पढ़ सकें

तथा शुद्ध, प्रभावोत्पादक, मधुर और रमणीय ढंगसे बोल और लिख सकें।

भाषा-शिक्षाका उद्देश्य जान लेनेके बाद यह जानना भी आवश्यक हो जाता है कि हम कौनसी भाषा किस उद्देश्यसे सीखें। संसारमें व्यवहृत तथा प्राचीन भाषाओंकी संख्या सहस्रों तक पहुँचती है। किन्तु हम उन्हें केवल छः भागोंमें ही बाँटते हैं—(१) प्राचीन भाषाएँ, (२) संस्कृति-भाषा, (३) मातृ-भाषा, (४) राष्ट्र-भाषा, (५) राज-भाषा, और (६) विदेशी भाषाएँ। भाषाओंका यह वर्गीकरण सर्वथा भारतमें भाषा-शिक्षणकी दृष्टिसे किया गया है।

संसारके अन्य देशोंमें प्रायः राजभाषा और राष्ट्रभाषामें तथा राजभाषा और मातृभाषामें कोई अन्तर नहीं होता। यह दुर्भाग्य भारतकी अपनी विशेष विभूति है।

प्राचीन भाषाओंसे हमारा तात्पर्य्य उन भाषाओंसे है जो भारतमें आजसे सैकड़ों या सहस्रों वर्ष पूर्व या तो साहित्यकी भाषाएँ थीं या साधारण जनसमाजके बोलचाल की, किन्तु जो राजनीतिक, सामाजिक, तथा ऐतिहासिक क्रान्तियोंके आघातसे अब निर्वंश अथवा अव्यवहृत हो गई हैं। ऐसी भाषाओंमें वैदिक संस्कृत, पाली तथा प्राकृतोंके नाम लिए जा सकते हैं। इन भाषाओंका अध्ययन इसी उद्देश्यसे किया जाता है कि हम उन भाषा-भाषियोंके सामाजिक जीवनका तथा उनके ज्ञानका परिचय पा सकें तथा उनमें अपनी परम्पराके इतिहासका क्रमिक विकास ढूँढ़ सकें।

संस्कृति-भाषासे हमारा तात्पर्य उस भाषासे है जिसमें हमारी जातिकी पूर्ण संस्कृति, सभ्यता, उसके आचार-विचार और ज्ञानका भंडार निहित है। इस दृष्टिसे संस्कृत ही ऐसी भाषा है जो हिन्दू जीवनके आदिसे अंततकके संस्कारोंका सञ्चालन करती है और जिसमें हमारी प्राचीन ज्ञान-गरिमा सुरक्षित है। संस्कृति-भाषा पढ़ानेका यही उद्देश्य होता है कि हम अपनी सभ्यता, संस्कृति, चिरसंचित ज्ञान और विज्ञानका परिचय प्राप्त करें और अपने पूर्वजोंकी रूढ़ियोंसे अलग न हो जायँ। इसका व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करना तो अनिवार्य ही समझना चाहिए।

माता, मातृभूमि और मातृभाषाका महत्व विचारशील व्यक्तियोंकी दृष्टिमें अत्यधिक हुआ करता है। कवि, लेखक, वीर और दार्शनिक सभी अपने-अपने ढंगसे इन तीनोंका गुणानुवाद किया करते हैं। ऊपर भाषाकी शिक्षाका जो विवेचन किया गया है उसे विशेषतः मातृभाषाकी शिक्षा पर ही लागू समझना चाहिए। इस स्थलपर यह प्रश्न उठ सकता है कि हम मातृभाषा किसे समझें। वास्तवमें तो वही भाषा मातृभाषा कहला सकती है जो बालक अपनी माँके मुखसे सुनता है।

किन्तु उक्त प्रश्नका उत्तर देनेके पहले यह भी समझ लेना चाहिए कि प्रत्येक भाषा की अनेक उपभाषाएँ और प्रत्येक उपभाषाकी अनेक बोलियाँ हुआ करती हैं। उपभाषा और बोलीकी व्यापकता भाषाकी अपेक्षा परिमित होती है। इस दृष्टिसे माता जिस भाषाकी उपभाषा या बोली बोलती है

वही भाषा मातृभाषा कहलाती है। उदाहरणके लिये अँगरेजों की मातृभाषा अँगरेजी है। पर अँगरेजी की भी अनेक उपभाषाएँ और विभिन्न बोलियाँ हैं। उन विभिन्न बोलियोंको बोलनेवाले एक ही शब्दको भिन्न भिन्न प्रकारसे बोलते हैं। फिर भी ग्रेट ब्रिटेनके निवासियोंकी सामाजिक भाषा अँगरेजी ही है। समाजके शिष्ट जन जिस भाषामें विचार-विनिमय, काम-काज और लिखा-पढ़ी करते हैं, शिक्षाकी दृष्टिसे वही मातृभाषा कहलाती है। अर्थात् यहाँ मातृभाषासे हमारा तात्पर्य्य उसी भाषासे है जिसके द्वारा हम परस्पर लिख और बोलकर अपने भाव व्यक्त करते हैं, जिसमें हमारे साहित्यकी रचना होती है तथा जो हमारे समाजके पढ़े लिखे शिष्टजनोंके बोलचालकी भाषा है। अतः इस मातृभाषाकी शिक्षा देनेका यही उद्देश्य होगा कि हम अपनी मातृभाषामें शुद्ध लिख और बोल सकें, सत्साहित्यकी सृष्टि कर सकें, तथा समाजमें उचित तथा संस्कृत रूपमें व्यवहार कर सकें।

हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी है क्योंकि समूचे भारतमें कमसे कम बाईस करोड़ प्राणी इसे बोलते और समझते हैं। राष्ट्रभाषासे अपरिचित व्यक्ति अपने ही देशके अन्य प्रान्तोंमें जानेपर भारी कठिनाईमें पड़ जा सकता है। हम भले ही राष्ट्रभाषाके विद्वान् न हों, राष्ट्रभाषा भली प्रकार बोल भी न सकें पर समझ सकनेका अभ्यास तो अवश्य ही करना चाहिए। इसका अध्ययन इसी उद्देश्यसे किया जाता है कि हम प्रत्येक देशवासीको अपनी बात समझा सकें, और उसकी बात समझ सकें।

हमारे देशकी राजभाषा अँगरेजी है। राजभाषा पढ़नेके लिये लोग बड़े उत्सुक रहा करते हैं। जिसके पास चार पैसे हैं, वही अपने लड़केको अँगरेजी पढ़ाता है। किन्तु इसमें जो स्वार्थकी दुर्गन्ध उड़ती है वह विद्याध्ययनके उच्च आदर्शको मिट्टीमें मिला देती है। राजभाषाका अध्ययन ज्ञानकी प्राप्तिके लिये प्रायः नहीं हुआ करता। पेट पालना तथा राज्यशासनकी गति-विधियों और नियमोंसे परिचित होना ही इसका मुख्य उद्देश्य होता है। कुछ लोग अँगरेजी भाषा और साहित्यका अध्ययन ज्ञानप्राप्तिके लिये भी करते हैं किन्तु वे राजभाषा मानकर नहीं बल्कि एक साहित्य-श्री-सम्पन्न विदेशी भाषा मानकर ही करते हैं। राष्ट्रभाषाकी थोड़ी-घनी जानकारी पठित कहलाने वाले प्रत्येक मनुष्यके लिये आवश्यक है।

विशुद्ध ज्ञानार्जनके लिये अथवा भाषाओंकी साहित्यिक प्रगति, उसके लेखकोंकी शैलियों आदिका अध्ययन कर अपनी भाषा और अपने साहित्यका तुलनात्मक विवेचन करने और अपना साहित्य-भांडार भरनेके उद्देश्यसे ही विदेशी भाषाओंका ज्ञान प्राप्त किया जाता है। यह 'आबेहयात' उन्हीं ज्ञान-पिपासुओंके लिये है जिन्होंने साहित्यिक तपस्याका व्रत ले रक्खा है।

हमारी भाषाकी समस्याएँ

अपनी मातृभाषाको हमलोग प्रायः 'हिन्दी' कहा करते हैं। पर वास्तवमें हिन्दी तो उस भाषा-समूहका नाम है

जो आर्य्यावर्त—हिन्दुस्तानमें बोली जाती है। हिन्दुस्तानको भी समूचा भारत समझनेकी भूल न करनी चाहिए। वास्तवमें आज दिन हमारी शिष्ट और सामाजिक भाषा नागरी है जिसे लोग 'खड़ी बोली' के नामसे पुकारनेकी व्यापक भूल करते हैं।

इसी स्थलपर हिन्दी और हिन्दुस्तानीके झगड़े पर विचार करते हुए यह निश्चित कर लेना अप्रासंगिक न होगा कि राष्ट्रभाषा और मातृभाषाके नामसे हमें क्या पढ़ना-पढ़ाना है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो खड़ी बोली, पड़ी बोली, टेढ़ी बोली और सीधी बोली आदि भाषाओंके नाम नहीं हुआ करते। भाषाका नाम या तो उस भूभागसे संबद्ध होता है जहाँ वह बोली जाती है जैसे मराठी, गुजराती, बंगाली, द्राविड़ आदि, या उस भाषाके गुणके कारण जैसे बिगड़ी हुई भाषाको अपभ्रंश और स्वच्छ, मँजी हुई भाषाको संस्कृत या नागरिकों तथा शिष्ट व्यक्तियों द्वारा बोली जाने वाली नागरी। इसी प्रकार हिन्दकी भाषाका नाम हिन्दी ही होगा।

हम ऊपर कह चुके हैं कि हिन्दी एक भाषासमूहका नाम है जिसके अन्तर्गत पंजाबी, राजस्थानी, ब्रज, अवधी, मैथिली, उर्दू आदि उपभाषाएँ हैं। जिस उपभाषाका नाम आजकल उर्दू है वह भी पहले हिन्दी या हिन्दवी ही कहलाती थी, पर दिन-दिन बढ़नेवाले साम्प्रदायिक विद्वेषने हिन्दीकी उक्त उपभाषामें अरबी, तुर्की, फारसी आदि मुस्लिम-संस्कृति-प्रधान भाषाओंके शब्दोंको खपा खपाकर

उसे हिन्दीकी प्रतिद्वंद्विनी भाषाका रूप दे दिया है। फिर भी उसके व्याकरणकी बंदिश देखते हुए जानकारों के निकट वह हिन्दी ही जानी और मानी जायगी । इस प्रकार हमारी बोलचालका माध्यम बनी हुई वर्त्तमान भाषा संस्कृत, अरबी, फारसी, अँगरेजी मिली हिन्दी ही है। पर इसका अर्थ उस हिन्दुस्तानीसे कभी नहीं है जिसमें एक हिन्दू बालकसे 'दादी बी, सलाम' कहलाया जाता है।

जिस हिन्दीकी चर्चा हम कर रहे हैं उसे सर्वप्रथम भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रने खड़ी बोलीके नामसे याद किया था। इस संबंधमें इस भाषाका 'नागरी' नाम भी उल्लेखनीय है। संसारमें हर जगह प्रायः लिपि और भाषाका एक ही नाम हुआ करता है। अतः नागरी लिपिमें लिखी जानेवाली भाषा भी नागरी ही कही जायगी । मेरठ और मुजफ्फर-नगर जिलोंमें अब भी खड़ी बोलीके नामसे पुकारी जाने-वाली भाषाको नागरी ही कहते हैं । यही नागरी हमारी साहित्य-रचनाकी माध्यम है । इसका गद्य और पद्य-रूप हिन्दीके अन्तर्गत ही समझना चाहिए । ऐसी स्थितिमें हमारी मातृभाषाका नाम नागरी ही है भले ही हम अपने घरोंमें ब्रज, अवधी, छत्तीसगढ़ी, भोजपुरी या उर्दू बोलते रहें। इनकी गणना उपभाषाओं और बोलियों ही में हो सकती है।

अतः भाषा या मातृभाषाके नामसे जिसका परिचय हम दे रहे हैं वह नागरी लिपिमें लिखी जानेवाली 'नागरी' भाषा है।

दूसरी ओर हमारा प्राचीन पद्यात्मक साहित्य प्रायः अवधी और ब्रज इत्यादि हिन्दीकी उपभाषाओंमें है जिसे पुराने हिन्दू और मुसलमान 'भाखा' कहते थे। उसका ह्रास होते देख मुंशी सदासुखलालने रोते हुए कहा था कि—'रस्मो रिवाज भाखाका दुनियासे उठ गया।'

अतः हम सब बातों पर विचार करते हुए निःसंकोच कह सकते हैं कि जिस भाषाके पढ़ने-पढ़ानेका हम निश्चय करना चाहते हैं उसका गद्य-भाग नागरी है और शेष व्यापक साहित्य हिन्दी है जिसके अन्तर्गत सिन्धु नदीके पूर्वीय तटसे लेकर बिहारतक तथा हिमालयकी दक्षिणीय उपत्यका-से लेकर ताप्तीके उत्तरीय तटके बीच बोली जानेवाली सभी भाषाएँ, उपभाषाएँ और बोलियाँ सम्मिलित हैं।

२

नागरी भाषाका ध्वनितत्त्व

शास्त्रीय विवेचन

हमारे वर्णोंकी मूल ध्वनियाँ प्रधानतः दो समूहोंमें विभक्त हैं, जिन्हें स्वर और व्यञ्जन कहते हैं। इनकी संख्या पाणिनीय-शिक्षाके अनुसार ६३ अथवा ६४ है।[1]

१—त्रिषष्टिश्चतुषष्ठिर्वा वर्णा शम्भुमते मता.।
संस्कृते प्राकृते चापि स्वयं प्रोक्ता॰ स्वयम्भुवा॥
स्वराः विंशतिरेकश्च स्पर्शाना पञ्चविंशतिः।
यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमा॰ स्मृताः।
अनुस्वारो विसर्गश्च ✕क✕पौ चापि पराश्रितौ॥
दुस्पृष्टश्चेति विज्ञेयो ऌकारः प्लुत एव च।

अ आ आ३, इ ई ई३, उ ऊ ऊ३, ऋ ॠ ॠ३, ऌ, ए ए३, ऐ ऐ३, ओ ओ३, औ औ३, क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म, य र ल व श ष स ह, चार यम[1], अनुस्वार (ं), विसर्ग (ः), ᳵ क् जिह्वामूलीय, और ᳵ प् उपध्मानीय, प्लुत ऌकार और दुस्पृष्ट।

लौकिक संस्कृतमें प्रयुक्त वर्णमालाके अनुसार अं, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ऌ, ए, ऐ, ओ, औ, स्वरवर्ण कहलाते हैं। क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, श, ष, स, ह व्यञ्जन वर्ण कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त अनुस्वार, विसर्ग और अनुनासिक (ँ) का भी प्रयोग मिलता है। इस सम्बन्धमें सबसे अधिक ध्यान देनेकी बात इन वर्णोंके उच्चारण-स्थानका निर्देश है। नीचे दिए कोठोंसे विदित होगा कि नागरी वर्णोंका क्रम सर्वथा वैज्ञानिक पद्धतिपर निश्चित किया गया है। वे एक क्रमसे सजाए गए हैं। ऐसा नहीं किया गया है कि कण्ठ्य वर्णके बाद ओष्ठ्य वर्ण हो और उसके बाद तालव्य वर्ण आ जाय तथा फिर तुरत ही दूसरे कण्ठ्य वर्णको स्थान दे दिया गया हो।

इसी सम्बन्धमें यहाँ एक और बात भी कह देनी अत्या-

१—वर्गेष्वाद्याना चतुर्णां पञ्चमे परे मध्ये यमो नाम पूर्वसदृशो वर्णः प्रातिशाख्ये प्रसिद्धः (पलिक्क्नी चख्ख्नतुः अग्निः घ्घ्नन्ति)। (सिद्धान्तकौमुदी सञ्ज्ञाप्रकरण)।

वश्यक है। किसी कार्यके करनेके पूर्व हमें उस कार्यका ज्ञान होता है, तदनन्तर इच्छा होती है, और तब मनुष्य उसके लिये यत्न करता है। इसी प्रकार शब्दोंच्चारणमें भी अनेक प्रक्रियाएँ पहले हो लेती हैं तब मनुष्य शब्दोच्चारण करता है। पाणिनि मुनिने अपनी शिक्षामें इस विषयकी कुछ महत्त्व-पूर्ण बातें कहीं हैं जो अवश्यमेव ध्यानमें रखनेकी हैं। उन्होंने कहा है—

"आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहत्य स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः॥
वर्णान् जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः।
स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः॥

अर्थात् शब्दोच्चारणके पूर्व आत्मा बुद्धिके साथ मिलकर अर्थज्ञान करती है तदनन्तर वह मनको बोलनेकी इच्छासे प्रेरित करती है। मन शरीरकी अग्निपर आघात करता है जिसके कारण अग्नि वायुको प्रेरित करती है। वह वायु हृदय स्थानमें पहुँचनेपर गम्भीर ध्वनि उत्पन्न करती है। वहाँसे चलकर फिर वह ऊपर जाकर मूर्धासे टक्कर खाकर लौटती है और मुखमार्गसे बाहर निकलते हुए विभिन्न प्रकारकी ध्वनियोंको उत्पन्न करती है। इन वर्णोंमें कारणके अनुसार पाँच भेद माने जाते हैंः—स्वरकृत भेद, कालकृत भेद, स्थानकृत भेद, आभ्यन्तर प्रयत्नकृत और बाह्यप्रयत्नकृत भेद। किन्तु बालकके उच्चारण सीखनेकी प्रक्रिया भिन्न है जिसके विषयमें आगे विचार किया जायगा।

वर्ण	उच्चारण-स्थान	वर्ग
अ आ ह *	कण्ठ	स्वर, अन्तस्था
क ख ग घ ङ *	जिह्वामूल	कवर्ग
इ ई च छ ज झ ञ य श	तालु	स्वर,चवर्ग,अन्तस्था
ऋ ॠ ट ठ ड ढ ण र ष	मूर्द्धा	स्वर,टवर्ग,अन्तस्था
लृ,त,थ,द,ध,न,ल, स	दांत	स्वर,तवर्ग,अन्तस्था
उ ऊ प फ ब भ म	ओष्ठ	स्वर पवर्ग
ए ऐ	कण्ठ-तालु	स्वर
ओ औ	कण्ठोष्ठ	स्वर
व	दंतोष्ठ	अन्तस्था

* अकुहविसर्जनीयाना कण्ठः के अनुसार अ आ ह क ख ग घ ङ के उच्चारण का स्थान कण्ठ है। किन्तु स्वर्गीय ईश्वरचन्द्र विद्यासागरने इसमें सशोधन करते हुए अ आ ह का उच्चारण-स्थान कण्ठ तथा कवर्गका उच्चारण-स्थान जिह्वामूल निर्दिष्ट किया है। 'जिह्वामूले तु कु प्रोक्तः'। पाणिनीय शिक्षा पर उक्त मत क ख ग के सम्बन्धमें है । पर इनकी उपयोग नागरीमें नहीं होता। विदेशी शब्दों में—काग़ज़ आदिमें—होता है । पर उनका ग्रहण नागरीमें तद्भव रूपमें होना चाहिए, तत्समरूपमें नहीं । अतः इन नवीन ध्वनियोंके स्वीकारकी कोई आवश्यकता हमारी नागरीमें नहीं है। हमारा कार्य क ख ग आदिसे 'कागज' लिखकर चल जायगा।

कहनेका तात्पर्य यह है कि मनुष्यपर भौगोलिक स्थितियों-का गहरा प्रभाव पड़ा करता है। यही कारण है कि 'अरब-वालोंको लू और धूपसे बचनेके लिये अपने सिरपर सदा एक वस्त्र रखना पड़ता है तथा बलुई आँधीमें वह कहीं उड़ न जाय इसलिये उसे गलेसे बाँधकर रखना पड़ता है। दिन-रात गला कसा रहनेका उनकी वाणीपर यह प्रभाव पड़ा कि भारतीय क ग ज आदि ध्वनियाँ अस्वाभाविक रीतिसे क़ ग़ ज़ हो गईं तथा ऐ, औ भी अपनी स्वाभाविक ध्वनिसे वंचित होकर अइ अउ के स्थानपर अए अओ बोले जाने लगे। और बेचारा सीधा-सादा अ भी अ़ हो गया।

अपनी भाषामें इन नवीन और अस्वाभाविक उच्चारणों-का समावेश हो जानेपर हमें भी अरबोंकी देखा-देखी अक्षरके नीचे विन्दु लगाकर उन ध्वनियोंका स्पष्टीकरण करना पड़ा।

यही बात अँगरेजी, फराँसीसी, डच और पुर्तगालियोंके आगमन पर भी हुई। हमारी भाषाकी ध्वनियोंपर इन विदेशियोंकी ध्वनियोंका भी प्रभाव पड़ा। कुछ भारतीय भाषाओंमें उन ध्वनियोंके निर्देशक चिह्न प्रस्तुत किए गए, जिनकी देखादेखी हिन्दीमें भी उनका प्रयोग लोग कहीं-कहीं करने लगे हैं। उदाहरणके लिये कॉलेज्, गॉड, जॉली, ऍंड आदि शब्द उद्धृत किए जा सकते हैं। प्रथम तीन शब्दोंमें कॉ गॉ और जॉ का उच्चारण आ और औ के बीचका है और ऍंडमें हल्का ऐ का। कुछ लोग प्रायः औ और ऐ पर पूरा बल देते हुए इन शब्दोंका उच्चारण कउलेज, गउड, जउली,

और अइंड करते हैं। महाराष्ट्रमें उक्त ध्वनियोंको स्पष्ट करनेके लिये अनुस्वारविहीन अर्धचन्द्रका प्रयोग करते हैं। वे इन शब्दोंको इस प्रकार लिखते हैं—कॉलेज, गॉड, जॉली और ऍएड। उक्त ध्वनियोंका निर्देश करनेके लिये हिन्दीमें भी मराठीवाले चिह्नका प्रयोग होने लगा है।

इस प्रकारके विदेशी प्रभावके कारण तथा अपने यहाँ सविधि उच्चारण सिखानेकी व्यवस्था छूट जानेसे नागरी लिपिमें लिखनेवाले तथा नागरी भाषाभाषी भी इन ध्वनियोंके उच्चारणमें भूल करने लगे। कुछ वर्ण तो ऐसे भी हैं जिनके वास्तविक उच्चारणका हमें आज भी पता नहीं लगता। नागरी ध्वनियोंका उच्चारण भारतके विभिन्न-प्रान्तोंमें भिन्न-भिन्न ढंगसे होने लगा है। नागरी वर्णमालाको पंजाबमें का, खा, गा, घा पढ़ते हैं, पश्चिमीय संयुक्तप्रान्तमें कै खै गै घै, बिहारवाले प्रत्येक वर्णका उच्चारण हल्का ओकार लगाकर किया करते हैं और बंगाली तो स्पष्ट गोल मुँह बनाकर सभी अक्षरोंको गोल करते हुए को खो गो घो पढ़ते हैं। बंगालियोंका अशुद्ध उच्चारण तो साहित्यिक कहानीकी वस्तु हो गई है। आज ही नहीं न जाने कबसे बंगाली लोग भारतीय ध्वनियोंका अशुद्ध उच्चारण करते आ रहे हैं। इस सम्बन्धमें किसी पुराने परिहासप्रिय संस्कृत कविका निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है जिसमें वङ्गीय उच्चारणसे व्याकुल होकर सरस्वतीजी ब्रह्माजीसे निवेदन करती हैं कि या तो बंगाली लोग गाथा पढ़ना छोड़ दें या आप कोई नई सरस्वती बनाइए। श्लोक यह है—

ब्रह्मन्विज्ञापयामि त्वां स्वाधिकारजिहासया।
गौडस्त्यजतु वा गाथामन्यावास्तु सरस्वती ॥"

संतोषकी बात है कि पूरबी संयुक्तप्रान्त और नागरी भाषा-भाषी मध्यप्रान्तके लोग नागरी ध्वनियोंका शुद्ध उच्चारण करते हैं। इस सम्बन्धमें सबसे बढ़कर चमत्कारकी बात तो यह है कि जो लोग पृथक् ध्वनियोंका विकृत उच्चारण करते हैं वे भी उनसे शब्द बन जाने पर उसका शुद्ध उच्चारण करने लगते हैं। उदाहरणके लिये अलग-अलग 'कै लै मै' कहने वाले भी 'कलम' ही लिखते और पढ़ते हैं।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं नागरी वर्णमालामें कुछ ध्वनियाँ ऐसी भी हैं जिनका प्रयोग उठ चुका है या जिनका उच्चारण इस समय अनिश्चित है। अतः इनका यहाँ संक्षिप्त इतिहास दे देना अनुचित न होगा।

वैदिक संस्कृतमें 'ह्रस्व' अ का उच्चारण विवृत होता था। पर यह प्रारम्भिक अवस्थाकी बात है। अनन्तर लौकिक संस्कृत एवं प्रातिशाख्यों और पाणिनीय शिक्षादिके द्वारा इसका उच्चारण आजकलकी भाँति संवृतही होता था।

'ऋ' और 'लृ' का भी उच्चारण वैदिक कालमें भिन्न होता था। 'र' ध्वनि तो इसके साथ उच्चरित होती थी–जिसका प्रमाण हमें ऋक् प्रातिशाख्य और महाभाष्यके अध्ययनसे प्राप्त है, पर इसका ठीक-ठीक उच्चारण क्या था यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता। पाली और प्राकृतमें 'ऋ' का प्रयोग नहीं मिलता है। 'ऋ' के स्थानपर कभी

'अ' कभी 'इ' और कभी 'उ' हो जाते हैं। जैसे:—'कृत' का 'कद', 'ऋषि' का 'इसि' और 'वृक्ष' का 'रुक्ख'। ऋ के उक्त तीन विकार संस्कृतमें भी उपलब्ध हैं। 'कृ' का 'करण' तृ का 'तीर्ण' और 'पृ' की 'पूर्ति' संस्कृतमें भी उपलब्ध हैं। ऐसी स्थितिमें 'ऋ' का उच्चारण न तो 'अम्रुताञ्जन' वाला ठीक है और न 'रिषि' ही उचित है।

'ऌ' का प्रयोग तो वैदिक संस्कृतमें भी अत्यल्प मात्रामें होता था। लौकिक संस्कृतमें तो 'ऌ' का प्रयोग एक तरहसे होता ही नहीं था*। आधुनिक पाश्चात्य विद्वानोंका कहना है कि प्राचीन ऌ का उच्चारण अँगरेजीके 'लिटिल्' शब्दमें उच्चरित होने वाले 'ल' के समान था। अस्तु, क्या था इसे कहने का कोई प्रबल आधार न मिलनेसे उस विषयमें मौन ही रहना उचित है। संस्कृतके पश्चात् पाली, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दीमें 'ऌ' का प्रयोग सर्वथा उपलब्ध नहीं है।

ए ऐ ओ औ को वैदिक और लौकिक संस्कृतमें सन्ध्यक्षर माना है। इनके उच्चारण स्थान भी (एदैतोः कण्ठतालु। ओदौतोः कण्ठ्योष्ठम्) एक न होकर दो कहे गए हैं। महाभाष्यमें भी इन्हें सन्ध्यक्षर ही माना है। इसी आधार

---

* अथ ऌकारोपदेश· किमर्थं. । किं विशेषेण ऌकारोपदेशश्चोद्यते न पुनरन्येषा वर्णानामुपदेशश्चोद्यते। यदि किंचिदन्येषामपि वर्णानामुपदेशे प्रयोजनमस्ति ऌकारोपदेशस्यापि तद्भवितुमर्हति। कोवा विशेषः। अयमस्ति विशेषः। अस्य ऌकारस्याल्पीयाश्चैव प्रयोगविषयः यश्चापि प्रयोगविषयः स क्लृपिस्थस्यैव। (महाभाष्य १।१।२।२।)

पर यह कल्पना की जाती है कि इन चार अक्षरोंका उच्चारण एक स्वरके समान नहीं—समान स्वरके समान-नहीं किन्तु दो स्वरोंके समान—सन्ध्यक्षरके समान—होता रहा होगा पर इनका ठीक-ठीक उच्चारण क्या था यह संदिग्ध ही है। पर प्रायः 'ए' 'ओ' 'ऐ' 'औ' का प्राचीन उच्चारण क्रमशः 'अइ' 'अउ' 'आइ' 'आउ' माना जाता है। इसका आधार उक्त कथनके अतिरिक्त यह भी है कि सन्धि-स्थलोंके 'ए' 'ओ, 'ऐ' 'औ' की रचना 'अ+इ' 'अ+उ' 'अ+ए' 'अ+ओ' के योगसे भी होती है। 'अए' 'अओ' भी ऐ औ का एक उच्चारण माना जाता है जो आधुनिक नागरीमें उपलब्ध है। पर हिन्दीकी स्थिति कुछ विचित्र है। आधुनिक नागरीमें ए ओ का उच्चारण एक स्वर सा होता है और 'ऐ औ' का सन्ध्यक्षर सा। अतः कुछ निर्णय करनेके पूर्व इन वर्णोंके इतिहास पर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिए। संस्कृतमें ये स्वर संयुक्ताक्षर माने गए हैं यह कहा जा चुका है। पाली और प्राकृतमें ए ओ तो उपलब्ध हैं, पर ऐ औ नहीं मिलते। प्राकृतमें प्रायः ऐ का ए और औ का ओ हो जाता है। पर कुछ ऐसे परिवर्त्तन भी उपलब्ध हैं, जो कि आधुनिक नागरी उच्चारणके कारण माने जा सकते हैं। प्राकृतमें 'दैत्य' शब्दका उच्चारण 'दइ' और पौरव का 'पउर' हो जाता है। अतः संस्कृतकालमें चाहे इनका उच्चारण सन्ध्यक्षर सा भी रहा हो पर आजकल हमारा आधुनिक उच्चारण निराधार नहीं है। प्राकृतकालसे ही

इनका उच्चारण आज सा है। अतः ऐ औ का शुद्ध उच्चारण 'अइ' 'अउ' ही मानना चाहिए। किन्तु वृद्धि-सन्धिके नियमानुसार इनका निर्माण अ + ए, अ + ओ से होनेके कारण इनका उच्चारण 'ऐसा' तथा 'औरत' आदि शब्दोंमें होनेवाले 'ऐ' 'औ' का भी प्रतिनिधि कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त हिन्दीकी उपभाषाओंमें ह्रस्व 'ऐ औ ए ओ' का भी प्रयोग मिलता है, जैसे कवितावलीमें—'अवलोकि हौं सोच बिमोचनको' 'नाथ न नाव चढ़ाइहौं जू' 'बरु मारिए मोहिँ बिना पग धोए'। आधुनिक नागरीमें भी ये ह्रस्व ध्वनियाँ 'लोहार' 'सोनार' 'एक्का' आदि शब्दोंमें उपलब्ध हैं। प्राकृतके व्याकरणोंमें यद्यपि इसका उल्लेख नहीं मिलता पर गाथाओंमें ह्रस्व 'ए ओ' मिलते हैं। लौकिक संस्कृतमें यद्यपि ह्रस्व 'ए ओ' उपलब्ध नहीं हैं किन्तु वेदकी एक शाखा—'सात्यमुग्रिराणायनीय' में ह्रस्व ए ओ का उच्चारण होता था जिसका ज्ञान आज हमें महाभाष्यसे प्राप्त है, एवं आज भी दक्षिणके सात्यमुग्रिराणायनी ए ओ का ह्रस्व ही उच्चारण करते हैं। पर इनके लिये हमारी नागरीमें नये संकेतोंकी आवश्यकता नहीं है। हम लोग अवधी आदिके कवित्त-सवैयोंमें आनेवाले एवं 'एक्का' 'लोहार'

१ ननुचैड. सस्थानतरावर्द्धं एकारोऽर्द्धं ओकार। न तौ स्तः। यदि तौस्याता तावेवायमुपदिशेत्। ननु च भोश्छन्दोगाना सात्यमुग्रिराणायनीया अर्द्धमेकारमर्द्धं मोकारं चाधीयते। सुजाते ए अश्वसूनृते। अध्वर्यों ओ अद्रिभिः सुतम्। शुक्रं ते ए अन्यत्। यजतं ते ए अन्यत्। इति (महाः एओङ्, ऐऔच्)

'सोनार' के ह्रस्व ए ओ का उच्चारण ठीक रीतिसे कर ही लेते हैं।

भारतके विभिन्न प्रदेश-वासियोंके उच्चारणका सूक्ष्म निरीक्षण बारहवीं शताब्दीके राजशेखरने भी किया था। उनका इस विषयका एक श्लोक काव्यमीमांसासे उद्धृत किया जाता है।

गौडाद्याः संस्कृतस्थाः परिचितरुचयः संस्कृते लाटदेश्याः,
सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च।
आवन्त्याः पारियात्राः सहदशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते,
यो मध्ये मध्यदेशं निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः॥

गौड़ आदि देशोंके निवासी संस्कृतके प्रेमी होते हैं, गुजरात (लाट) के निवासियोंकी रुचि प्राकृतकी ओर अधिक रहती है, सम्पूर्ण मरुदेशवासियोंके उच्चारण अपभ्रंशके समान होते हैं और उनमें ट, क्क और भ आदिकी प्रचुरता रहती है। अवन्ती, पारियात्र और दशपुरके निवासी पैशाचीसे अधिक स्नेह रखते हैं किन्तु मध्यदेशका रहनेवाला भारतके मध्यमें रहनेके कारण सभी भाषाओंमें निष्णात होता है। उक्त उदाहरणसे मध्यदेश निवासियोंकी उच्चारण-पटुतामें कोई सन्देह नहीं रह जाता। आज भी युक्तप्रान्त निवासी जैसे भाषा-पटु हैं वैसे अन्य प्रदेशीय नहीं हैं।

'ङ' का प्रयोग नागरीमें केवल तत्सम शब्दोंमें होता है, जैसे 'गङ्गा' 'विहङ्गम' 'अङ्ग' आदिमें। किन्तु इनका काम अनुस्वारके द्वारा भी चल जाता है।

'ञ' का प्रयोग तो यही कहना चाहिए कि नागरीमें रह ही नहीं गया है। 'चञ्चल' 'अञ्चल' आदि भी वस्तुतः चन्चल, अन्चल ही पढ़े जाते हैं। केवल अनुकरणात्मक 'साञ्-साञ्' आदिमें ही 'ञ' का उच्चारण होता है। इसी प्रकार संयुक्ताक्षरमें आनेवाला 'ण' भी 'कुण्ठित' 'दण्ड' में 'न' के रूपमें ही उच्चरित होता है। पर पञ्चम वर्ण-संयुक्त वर्णोंकी उपयुक्त स्थितिका एक कारण भी है। महाभाष्यकार पातञ्जलिने भी कहा है कि अनुस्वार और ङ, ञ, ण, न, म, के पश्चात् यदि क, ख, ग, घ, च, छ, ज, झ, ट, ठ, ड, ढ, त, थ, द, ध, प, फ, ब, भ, श, ष, स, ह आवें तो उन्हें (अनुस्वार और ङ, ञ, ण, न, म को) नकारोत्पन्न ही समझना चाहिए। ऐसी स्थितिमें आधुनिक नागरीके अनुस्वार और कुछ वर्गोंके पंचम वर्णोंका 'न' सदृश उच्चारण अकारण नहीं है।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, नागरी वर्णमालामें कुछ ध्वनियाँ ऐसी भी हैं जिनका प्रयोग या तो उठ चुका है या जिनका उच्चारण इस समय अनिश्चित है। ङ ञ ष ऋ ऌ क्ष और स ऐसे ही अक्षर हैं। इनमें ङ ञ और ऌ का प्रयोग प्रायः लुप्त हो चुका है। शेष ऋ ष क्ष और ज्ञ का उच्चारण भ्रमात्मक और अनिश्चित हो रहा है। लोग प्रायः ऋ का उच्चारण ह्रस्व 'रि' की तरह किया करते हैं। वे यह भूल करते हैं रि और ऋ के समान उच्चारणका भ्रम शायद दोनोंके मूर्धन्य वर्ण होनेका परिणाम है। वास्तवमें रि तो र पर ह्रस्व इकारकी मात्रा लगाकर बनती है परन्तु ऋ का उच्चारण हल्का एकार लगाकर होता है। कृपण, कृषि,

सरीसृप आदिमें लगा हुआ र इसी ऋ का दूसरा रूप है। इनको हम इस प्रकार लिख सकते हैं—क्रे्पण, क्रे्षि तथा सरीस्रे्प।

ष की स्थिति भी ऋ से मिलती जुलती है। नागरी वर्णमालामें यद्यपि दन्त्य स, तालव्य श और मूर्धन्य ष अलग अलग स्पष्ट निश्चित किए गए हैं फिर भी लोग तालव्य श और मूर्धन्य ष में भेद नहीं करते। मूर्धन्य ष को या तो लोग तालव्य श पढ़ते हैं या सीधे ख पढ़ते हैं। इन वर्णोंमें परस्पर इतना स्पष्ट अन्तर होते हुए भी भ्रमात्मक उच्चारण करना अपनी अनभिज्ञताका विज्ञापन देना है।

यद्यपि ऊपरकी विवेचनासे यह स्पष्ट है कि आजकल हमारे यहाँ 'श' और 'ष' के उच्चारणमें भेद नहीं रह गया है तथापि यह परम्परा आजकी नहीं है। इसके लिये हम दोषी नहीं कहे जा सकते। हमको यह परम्परा हमारी पूर्व-वर्त्तिनी भाषाओंसे मिली है। 'श' 'स' और 'ष' के उच्चारण का विभेद तो संस्कृत तक उपलब्ध है, पर पाली, प्राकृत, अपभ्रंष आदिमें यह भेद नहीं दिखाई पड़ता। पालीमें 'श' 'ष' और 'स' के लिए केवल दन्त्य 'स' का ही प्रयोग होता था। इसी प्रकार शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि प्राकृतोंमें भी तीनों ध्वनियोंके स्थानपर केवल 'स' का ही प्रयोग होता था। मागधी प्राकृतमें तीनों ध्वनियोंके स्थानपर केवल तालव्य 'श' का ही प्रयोग होता था। यही परम्परा हमें भी प्राप्त हुई। पर हमारी आजकी प्रवृत्ति तत्सम शब्दोंको शुद्ध रूपमें उच्चारण करनेकी ओर है। अतः हमने

प्रयोग तो तीनों ध्वनियोंका कर दिया है परन्तु उच्चारण अब तक केवल दन्त्य 'स' और तालव्य 'श' इन दो का ही करते हैं। यदि वैज्ञानिक दृष्टिसे देखा जाय तो वस्तुतः दन्त्य 'स' का ही कुछ विशेष परिस्थितियोंमें मूर्धन्य 'ष' हो जाता है। यह नागरीके उच्चारणका अपना ध्वनिनियम है। जैसे प्रायः इ ऊ ऋ ए ओ ऐ और ह य व र ल क ख ग घ ङ ट ठ ड ढ ण और ष के पश्चात् दन्त्य 'स' के स्थानमें ही मूर्धन्य ष संस्कृतमें हो जाता है। जैसे—बिष, ऋषि, आदि किन्तु तालव्य 'श' और मूर्धन्य 'ष' की गड़बड़ी उच्चारणमें अनभिज्ञताका ही फल है।

ऐसा ही भ्रम 'क्ष' के उच्चारणमें भी दिखाई देता है। विभिन्न स्थानोंमें क्ष का लोग ख्य, क्श या, क्स के समान उच्चारण करते हैं। परन्तु नागरीका क्ष वास्तवमें क और मूर्धन्य ष के योगसे बनता है। प्रमाणके लिये ब्राह्मी शिला-लेखोंमें आए हुए क्ष को देखना चाहिए। उसमें क और ष के संयोगसे बना हुआ क्ष का यह रूप देखनेमें आता है।

क ष = क्ष

इसके अतिरिक्त संस्कृत व्याकरण पढ़नेवाला एक साधारण विद्यार्थी भी यह जानता है कि क् ष् संयोगे 'क्ष' होता है। इसी प्रकार 'धुक्षु' 'मोक्ष' आदिमें 'क्ष' की रचना भी क्+ष से ही होती है। अस्तु, इसके उच्चारणमें सन्देहका तनिक भी स्थान न रहना चाहिए।

सबसे अधिक गड़बड़ी ज्ञ के उच्चारणमें पाई जाती है। पंजाबवाले इसे शुद्ध ग्य बोलते हैं। संयुक्तप्रान्त और मध्यप्रान्तमें ग्यँ का प्रचार है। महाराष्ट्र और गुजरातमें यही वर्ण द्न्य उच्चरित होता है और वेदपाठी-मण्डल इसका उच्चारण ज्ञ करता है। ऐसी स्थितिमें इसका प्रामाणिक उच्चारण निश्चित कर लेना परमावश्यक है।

इस सम्बन्धमें सर्वप्रथम हमें एक सूत्र मिलता है, 'जञोर्ज्ञः' जो यह प्रमाणित करता है कि ज्ञ न तो ग और ञ से बना है और न तो द् न् और य से, बल्कि यह अक्षर ज और ञ से बनता है। दूसरी ओर ईसासे सौ वर्ष पूर्ववाले पभोसाके ब्राह्मी शिलालेखसे भी यही बात प्रमाणित होती है जिसमें ब्राह्मी ज और ञ के योगसे बना हुआ ज्ञ इस प्रकार लिखा मिलता है।

E h = E/h

ज ञ = ज्ञ

तीसरा प्रमाण यह है कि सर्वथा प्राचीनतावादी वैदिक-मंडली भी ज्ञ ही उच्चारण करती है। संस्कृतमें 'ज ञ संयोगे ज्ञ' कहा भी जाता है।

अनेक स्थलों पर 'ज्ञ' वर्ण की रचना भी ज् + ञ के योगसे ही होती है। अस्तु वेदकी विभिन्न शाखाओंमें प्रातिशाख्यों और शिक्षाओंके अनुसार चाहे उच्चारणमें कुछ वैचित्र्य हो किन्तु हमारी नागरीमें इसका उच्चारण ज्ञ सा ही होना उचित है।

नागरीके व्यंजनोंका

उच्चारण-करण		ओष्ठ		जिह्वाग्र	जिह्वाग्र	जिह्वोपाग्र
प्रयत्नकृत-भेद	स्थानकृत भेद	द्व्योष्ठ्य	दन्त्योष्ठ्य	दन्त्य	वर्त्स्य	दन्त्य-वर्त्स्य
स्पर्श	अल्प-प्राण	प् ब्		त् द्		
	महाप्राण	फ् भ्		थ् ध्		
स्पर्श-घर्ष	अल्प-प्राण					
	महाप्राण					
अनुनासिक	अल्पप्राण	म्			न्	
	महाप्राण	+म्ह्			+न्ह्	
पार्श्विक	अल्पप्राण				ल्	
	महाप्राण				+ल्ह्	
लुंठित	अल्पप्राण				र्	
	महाप्राण				+र्ह्	
उत्क्षिप्त	अल्पप्राण					
	महाप्राण					
घर्ष			*फ़् व्			स् *ज़्
अन्तस्थ (अर्ध-स्वर)		व्				

देखिए—रेखाङ्कित ध्वनियाँ श्वास-ध्वनियाँ है। अन्य सभी ध्वनियाँ नाद-

\+ ऐसे चिह्न जिन ध्वनियोंके पूर्वमें हैं वे ध्वनियाँ आधुनिक भाषा-

* ऐसे चिह्न जिन ध्वनियोंके पूर्वमें हैं वे अरबी-फारसीके तत्सम श

३

शुद्ध उच्चारणकी महत्ता और शिक्षा

वर्णोंके उच्चारण-स्थानका निश्चय हो जानेपर यह प्रश्न सामने आता है कि शुद्ध उच्चारण करनेका अभ्यास किस प्रकार कराया जाय। उच्चारण सिखानेकी विधियोंका निर्देश करनेसे पूर्व यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि हमारी भाषा-ध्वनियाँ हमारे शरीरके किन अंगोंकी क्रियाओं और गतियोंसे उत्पन्न होती हैं। सर्वप्रथम हमें बालकोंकी श्वास-गतिका ध्यान रखना चाहिए अर्थात् उन्हें श्वास भीतर लेने, उसे रोक रखने और नियमित रूपसे उसका प्रयोग करनेका अभ्यास कराना चाहिए। बाहरकी हवा श्वासनलिका द्वारा फेफड़ेमें पहुँ-चती है। इस श्वासनलिकाके सिरेपर स्वरयन्त्र है जिससे श्वासके आघातसे संपूर्ण ध्वनियाँ प्रादुर्भूत होती हैं। स्वर-

गद्गद स्वरमें, गा-गाकर, वर्णोंको चबाचबा करके, पदों और अक्षरोंको पूर्ण रूपसे उच्चारण न कर अपूर्ण उच्चारण करके, दीनतायुक्त स्वरमें और सभीको अनुनासिक बनाकर बोलना उचित नहीं है।

याज्ञवल्क्य शिक्षामें भी ये ही बातें दुहराई गई हैं।

बोलनेमें कण्ठका गद्गद होना और जीभका बँधजाना उचित नहीं है। इस प्रकार बोला नहीं जा सकता। जिसकी प्रकृति अच्छी है, जिसके दाँत और ओठ अच्छे हैं, जो उच्चारणमें प्रगल्भ है, एवं विनीत है, वह वर्णोंका उचित उच्चारण कर सकता है। शंकित, भयभीत, खूब जोरसे चिल्ला-चिल्लाकर, अस्पष्ट, नकिया नकियाकर, कौवेकी आवाजमें, मूर्धासे ही सभीका उच्चारण करके, उचित स्थानसे उच्चारण न करके, नीरस ध्वनिमें सुस्वर-रहित, अलग-अलग बेढंगे रूपसे बलाघात करके, व्याकुलता-पूर्वक एवं ताल-हीन पढ़ना ये पढ़ने वालेके चौदह दोष हैं।

उसी शिक्षामें आगे चलकर भले-बुरे ढंगसे पढ़नेवालोंके भी गुण-दोष बतलाए गए हैं।

> माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
> धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका गुणाः॥
> गीती शीघ्री शिरःकम्पी तथा लिखितपाठकः।
> अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः॥

मधुर और अच्छे स्वरमें, लयके साथ, धैर्यसहित, पदोंको अलग-अलग करके, स्पष्टतापूर्वक प्रत्येक शब्दका उच्चारण

करनेवाला उत्तम पाठक है। इसके विपरीत गाकर, जल्दी-जल्दी सिर हिलाते हुए, चुपचाप अर्थ समझे बिना या दबी जबानसे पढ़नेवाला अधम पाठक है।

शब्दोच्चारणकी सम्यक् शिक्षा देनेके समय प्राचीन भारतीय स्वर और वर्णपर बहुत जोर देते थे। उनका ऐसा करना बिलकुल उचित था क्योंकि यदि स्वर और वर्ण ठीक न हों तो केवल शब्दोंका ठीक-ठीक उच्चारण करनेसे ही बात समझमें नहीं आ सकती। एक उदाहरण लेकर देखिए कि शुद्ध उच्चारण करनेपर भी स्वर और वर्णका मिथ्या प्रयोग कितना उलटफेर कर देता है। एक छोटासा वाक्य "मैंने मारा है" ले लीजिए। इसको पढ़ते समय यदि 'मैंने' पर जोर दिया जायगा तो ऐसा जान पड़ेगा मानो प्रश्न किया जा रहा है। 'मारा' के साथ 'है' पर जोर देनेसे यही वाक्य यह अर्थ देने लगेगा कि मैंने ही मारा है और इसके लिये मैं किसीसे डरता नहीं हूँ। इस सम्बन्धमें एक वैदिक कथा उल्लेखनीय है जिसमें इन्द्रके वधकी कामनासे उसके शत्रुने माला जपनी प्रारम्भ की परन्तु स्वरके मिथ्या प्रयोगके कारण वह स्वयं मारा गया।*

अतः शिक्षकोंको शुद्ध उच्चारण पर ध्यान देनेके साथ-साथ शुद्ध स्वर और वर्ण पर भी ध्यान देना चाहिए। यहाँ उच्चारणसे सम्बन्ध रखने वाली एक बात कह देनी आवश्यक है। महाभाष्यमें एक वाक्य आया है—'उदात्ते

* एकः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

कर्तव्ये योऽनुदात्तः करोति खण्डिकोपाध्यायः तस्मै चपेटां ददाति। अर्थात् उदात्त स्वरके स्थान पर यदि शिष्य अनुदात्त कर देता है तो खड़ियाके सहारे पढ़ाने वाला अध्यापक उसे चट एक झापड़ रसीद कर देता है। इस उद्धरणसे यह स्पष्ट विदित है कि उच्चारणकी शुद्धता पर—केवल ध्वनियोंकी शुद्धता पर ही नहीं किन्तु स्वरोंकी शुद्धता पर भी प्राचीन कालसे ही बड़ा जोर दिया जाता था।

याज्ञवल्क्य शिक्षा और पाणिनीय शिक्षाके पाठ-दोष और पाठ-गुण एवं स्वरकी शुद्धताका विचार इस बातके सूचक हैं कि भारतीय प्राचीन परम्पराके शुद्ध उच्चारणमें भी स्वरोंका यथार्थ प्रयोग बड़े महत्वका विषय था। खण्डिकोपाध्याय भी वर्णोंकी अशुद्धिमात्रका शिक्षण नहीं कराता था वरन् उदात्त-अनुदात्त उच्चारणका भी वह ध्यान रखता था।

उपर्युक्त विवेचनका सारांश यह है कि हमारे मुखसे निकले हुए स्वर शुद्ध हों और व्यंजन स्पष्ट हों। हमारी भाषामें यह विशेषता है अक्षरोंकी ध्वनियाँ निश्चित हैं अतः उच्चारणमें कोई असुविधा नहीं हो सकती किन्तु इस विशेषताके होते हुए भी हमारी भाषा अनेक भाषाओंके संसर्गसे तथा अनेक भाषा-भाषियोंके संसर्गसे बनी है। हमने तद्भव शब्दोंको इतनी स्वतन्त्रता दे दी है कि 'कृष्ण' शब्द कान्हा, कन्हैया, कान्ह, किशन न जाने कितने रूप हमारे साहित्यमें धारण कर लेता है। इन आर्ष प्रयोगों पर व्याकरणकी कृपाणका भी कोई प्रभाव नहीं पड़ सका। यद्यपि 'ऋण' के 'रिन' रूपको भी साहित्यमें स्थान मिल गया है किन्तु

नागरी गद्यमें 'रिन' लिखनेवालेको विद्रोही समझा जाता है। 'कविजी' को प्रायः लोग 'कवीजी' कहते हैं किन्तु लिखनेके समय ह्रस्व 'वि' होनी चाहिए दीर्घ नहीं। अतः हमारी भाषा तबतक शुद्ध नहीं हो सकती जब तक हम तद्भव शब्दोंके शुद्ध रूपोंका निर्णय नहीं कर पाते। यह तो व्यापक दृष्टिसे विचार हुआ।

इन बोलियों और उपभाषाओंके कटु प्रभावोंके अतिरिक्त वैयक्तिक रूपसे भी असावधानतासे या स्वरयन्त्रोंके अनुचित प्रयोगसे उच्चारण-दोष आ जाते हैं। जो असावधानतासे प्रयोग किए जाते हैं वे इस प्रकारके हैं जैसे—'कुन्दन' का 'कुन्नन', 'सुरेन्द्रसिंह' का सुरेन्नसिंह इत्यादि। ऐसी अशुद्धियाँ तो तनिक सावधान हो जानेपर ही दूर की जा सकती हैं।

स्वरयन्त्रोंके अनुचित प्रयोगके उदाहरणोंमें 'श' का 'स' या 'स' का 'श' या 'र' का 'ज़' के समान उच्चारण करना तथा तोतला बोलना आदि हैं। ये दोष प्रायः उन बालकोंमें आ जाया करते हैं जो दूसरोंकी नकल करते हैं।

उच्चारण शुद्ध करनेकी तीन विधियाँ हैं—(१) आवृत्ति-पुनरावृत्ति, अर्थात् बार-बार अभ्यास कराकर ठीक कर देना। (२) स्थान-परिवर्त्तन अर्थात् अशुद्ध बोलनेवालोंके पाससे हटाकर शुद्ध बोलनेवालोंकी संगतिमें रखना। (३) तेज तथा अस्पष्ट बोलनेसे रोककर धीरे-धीरे अक्षर-अक्षर स्पष्ट बोलनेका अभ्यास कराना।

कक्षामें अध्यापक पहली तथा तीसरी प्रणालीका उपयोग करके सफलता प्राप्त कर सकता है, क्योंकि दूसरी विधिके प्रयोगके लिये भारतीय अध्यापक बेबस हैं। हमारे संपूर्ण ज्ञानका आधार अनुकरण है अतः अच्छे वक्ताकी वाणी-का यह प्रभाव होता है कि श्रोता केवल उसकी शुद्धता ही नहीं ग्रहण करते वरन् उसके स्वरका भी अनुकरण करते हैं। अतः सर्वोत्कृष्ट विधि यही है कि अध्यापक स्वयं उच्चारण करके बालकोंसे बार-बार शुद्ध उच्चारण करावें।

यहाँ एक बात और भी स्मरण रखनेकी है। कभी-कभी हम लोगोंकी यह प्रवृत्ति होती है कि हम एक शब्दके केवल एक अक्षरका ही उच्चारण ठीक करानेमें लग जाते हैं। यह विधि मनोविज्ञानसे विरुद्ध है। शब्दका प्रत्येक वर्ण एक दूसरेसे संबद्ध होता है अतः उच्चारण शुद्ध कराते समय पूरा शब्द लेना चाहिए एक अक्षर नहीं। मान लीजिए एक विद्यार्थी 'शंकर' के स्थानपर 'संकर' कहता है। यहाँ 'शं' की ही आवृत्ति नहीं करानी चाहिए बल्कि पूरे 'शंकर' की। साथ ही 'शंकर' और 'संकर' के अर्थोंमें भेद बता देना चाहिए जिससे इन बातोंका ऐसा संबद्ध स्वरूप बालकके मस्तिष्कमें बैठ जाय कि वह फिर कभी अशुद्ध न बोल सके।

माध्यमिक स्कूलोंमें पढ़नेके लिये आए हुए बालकका ज्ञान शिशुओंकी अपेक्षा कुछ अधिक होता है। वे अक्षरोंके परिचयके साथ-साथ अनेक वस्तुओंके नामों, क्रिया-बोधक शब्दों तथा विशेषणोंसे भी कुछ हदतक परिचित रहते हैं।

ऐसे बालकोंके सीखे हुए शब्दोंके उच्चारण-शोधनके लिये छः विधियाँ काममें लाई जाती हैं।

१—वस्तुको सामने रखकर उसका शुद्ध नाम बतलाना । जैसे—छतरीको सामने रखकर 'छत्री' कहनेवालेको शुद्ध करके 'छतरी' कहलाना।

२—क्रिया करके या दिखलाकर उसका शुद्ध रूप कहलाना, जैसे—'खैंचना'को शुद्ध करके 'खींचना' कहलाना।

३—विशेषणोंका प्रयोग करके तथा शुद्ध करके जैसे—'सुन्नर' को 'सुन्दर' कहलाना।

४—विद्यार्थीसे तो कुछ न कहना बल्कि उसके सामने इस प्रकार बातचीत और कामकाज करना कि वह स्वयं ही प्रकारान्तरसे शब्दोंके शुद्ध उच्चारणका परिचय प्राप्त करने लगे। उदाहरणके लिये विद्यार्थीको सामने बैठाकर दूसरे किसीसे खिले हुए फूलोंकी ओर संकेत करके कहा जाय कि 'कुसुमित प्रसून कितने सुन्दर प्रतीत हो रहे हैं'। इस पद्धतिमें सामाजिक वातावरण, पास-पड़ोसका शिष्टाचार, घरके अन्य प्राणियोंकी बोलचालका काफी प्रभाव पड़ता है। इसमें जबानी शिक्षाकी अपेक्षा शिक्षकके निजी व्यवहार अधिक महत्व रहता है। हमारे देशमें भाषाके अध्यापकोंकी सबसे बड़ी कमी यह है कि वे कक्षामें तो विद्यार्थीसे कहेंगे 'तू पढ़ता क्यों नहीं है' किन्तु बाहर कहेंगे 'तू पढ़त काहे नाहीं हउव' इत्यादि। भाषाके अध्यापकको यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि देशकी भाषाको सुधारनेका उत्तरदायित्व उसी पर;

५—विद्यार्थियोंके लिये भौगोलिक और ऐतिहासिक यात्राओंकी व्यवस्था करना क्योंकि वर्त्तमान शिक्षाशास्त्री बहुपठकी अपेक्षा बहुश्रुत तथा बहुदर्शी बनाने पर जोर देते हैं। भाषाकी शुद्ध शिक्षाके लिये नई-नई परिस्थितियाँ प्रस्तुत करनी चाहिएँ। इससे लाभ यह होता है कि नये शब्द शुद्ध रूपमें ही विद्यार्थी ग्रहण करते हैं। हमारे यहाँ दो प्रकारके शिक्षित कहे गए हैं, एक बहुश्रुत दूसरे बहुपठ। बहुपठकी अपेक्षा बहुश्रुतका महत्व अधिक है क्योंकि बहुश्रुत जितना व्यावहारिक और क्रियावान् होता है उतना ही बहुपठ व्यवहार-शून्य और अक्रिय होता है। इस तथ्यके किसी जानकारका कथन है कि "शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः यस्तु क्रियावान् पुरुषस्स विद्वान्" अर्थात् शास्त्रोंका गहरा अध्ययन करने पर भी लोग मूर्ख ही रह जाते हैं। वास्तविक विद्वान् वही है जो क्रियावान् हो। बहुश्रुत व्यक्तिके लिये बहुसंग होना आवश्यक है। किताबी-ज्ञानकी अपेक्षा बाहरी जानकारी अधिक रखनेवाले व्यक्ति प्रायः बहुपठोंसे कहीं अधिक सफल होते हैं। इसका कारण यह है कि बहुपठ लोगोंकी शिक्षा जिस पुरानी दण्ड-पद्धतिसे हुई है उसमें शिक्षककी अपेक्षा शिक्षकका डण्डा अधिक काम करता था। प्रत्येक बात पीट-पीट कर रटाई जाती थी और लोग ठोक-पीटकर वैद्यराज बनाए जाते हैं। भारतीय शिक्षण-संस्थाओंमें विशेषतः हिन्दी-उर्दू मिडिल स्कूलोंमें आजसे दस पाँच वर्ष पूर्वतक इस पद्धतिका व्यापक प्रचार था। परीक्षा पास

करनेके लिये 'बाँसकी टहनी' चमत्कार करती थी। दिन-दिन बढ़नेवाले शिक्षा-प्रचारके कारण यह भारतीय परिपाटी बहुत कुछ उठ गई है और उठती ही जा रही है।

६—आवृत्ति और पुनरावृत्ति तथा संशोधन द्वारा पूरे वाक्यका शुद्ध उच्चारण करना सिखाना। उदाहरणके लिये बालकके मुखसे यह निकलते ही कि 'हम सहर गए थे' तुरत उसे टोक देना चाहिए कि तुम अशुद्ध कह रहे हो, इसे यों कहो कि 'मैं शहर गया था'। इस प्रकार बार-बार वाक्यमें ही संशोधन और उसकी पुनरावृत्ति करानेसे भी बालक शुद्ध बोलना सीख लेते हैं।

अँगरेजीमें भी यही संशोधन और पुनरावृत्ति वाली प्रणाली प्रचलित है। किन्तु इस प्रणालीकी उपयोगिता भी उन्हींके यहाँ सार्थक है जहाँ एक ही ढंगसे लिखे जानेवाले शब्दोंका उच्चारण दो तरहसे होता है या दो ढंगोंसे लिखे जानेवाले शब्द एक ही तरहसे बोले जाते हैं। हमारे यहाँ तो ऋषि, कृषि, ऋण, ज्ञान आदि दस-पाँच ही शब्द ऐसे हैं जिनके उच्चारणकी पुनरावृत्ति करानेकी आवश्यकता पड़ती है। ऋ, ष, क्ष और ज्ञ अक्षर जिन शब्दोंमें आते हों उन्हें स्वयं बार-बार शुद्ध बोलने और बुलवानेसे तथा संयुक्ताक्षरवाले शब्दोंके उच्चारण सिखानेमें तनिक सावधानी करनेसे ही हमारी उच्चारण-समस्या हल हो जा सकती है।

४

बोलचालकी शिक्षा

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसे समाजमें अपनी स्थिति बनाए रखनेके लिये चार आदमियोंसे व्यवहार रखना ही पड़ता है। इस व्यवहार-क्षेत्रमें उतर कर उसे चार मित्र दस शत्रु बनाने ही पड़ते हैं, जीविकाके लिये धनोपार्जन करना पड़ता है। यह सारा प्रपंच रचनेमें उसे एकमात्र अपनी वाणी पर भरोसा करना पड़ता है। उसकी वाणी अर्थात् भाषा ही इन अवसरोंपर उसके काम आती है। भाषाका उपयुक्त प्रयोग पुश्तैनी शत्रुओंको मित्र बना देता है,

उसीका कटु रूप गाढ़े मित्रोंको कट्टर शत्रु बना देता है। अवसरोपयुक्त भाषाके प्रयोगमें अभ्यस्त दूकानदार एक चीज खरीदनेके लिये आए हुए ग्राहकके हाथ चार चीजें बेंच देता है। इसके विपरीत खरी सुनानेवाले दूकानदार दिन भर मक्खियाँ मारा करते हैं। भाषापर अधिकार रखनेवाले मनुष्य हृदय पर अधिकार रखते हैं। वे क्षुब्ध जन-समूहको अपनी वाणीके बलपर भेड़ भी बना सकते हैं और अपनी जोशीली वक्तृतासे विद्रोह भी करा सकते हैं, साम्राज्यका तख्ता उलट सकते हैं। इँगलैण्डके प्रधान मन्त्री ग्लैड्स्टनकी वाणीमें वह शक्ति थी जो कभी-कभी महारानी विक्टोरियाको भी भयभीत कर देती थी। कहा जाता है कि एक बार पार्लियामेण्टमें किसी महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार हो रहा था। स्वयं प्रधान मन्त्री उसके प्रस्तावक थे। उन्होंने अपना प्रस्ताव इतने जोरदार शब्दोंमें उपस्थित किया कि लोकमत उनकी ओर झुकने लगा। महारानी विक्टोरिया उस प्रस्तावके विरुद्ध थीं। परन्तु उनमें विरोध करनेका साहस नहीं था। वह अनुभव कर रही थीं कि ग्लैड्स्टनकी ओजमयी वाणीका विरोध करना उनकी शक्तिके बाहर है। अतः उन्हें बाध्य होकर यह कहना पड़ा कि प्रधान मन्त्री अपना प्रस्ताव लिखकर दें बोलकर नहीं।

उक्त उदाहरणसे लिखने और बोलनेका अन्तर स्पष्ट हो जाता है। 'लेखन मूक भाषण है और भाषण मौखिक लेखन। लिखित शब्द चित्रके समान होते हैं जिनमें रूप और रङ्ग होता है, शरीर होता है पर प्राण नहीं। परन्तु कथित शब्द

हमारे व्यक्तित्वसे अनुरञ्जित, हमारी भावनाओंसे अनुप्राणित, हमारी आँखोंकी चमकसे ज्योतिर्मय और हमारे हाथकी लहरोंसे गतिशील होते हैं।' सवाक् विचारोंको भाषण कहते हैं और भाषण करनेका साधन भाषा है। भाषा अर्थात् बोलचालमें दो बातोंका होना बहुत आवश्यक है। इसमें पहली बात है अर्थनिर्देश और अर्थनिर्देशके समान ही महत्वपूर्ण दूसरी बात है प्रभावोत्पादकता। हम जब किसीसे कुछ कहते हैं तो हमारा उद्देश्य यही रहता है कि श्रोता हमारी बातको समझे और उसपर हमारी बातका प्रभाव पड़े। ऐसी स्थितिमें भाषाका अर्थनिर्देशक और प्रभावोत्पादक होना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य्य भी है। अर्थनिर्देशकता और प्रभावोत्पादकता लानेके लिये भाषा शुद्ध हो, अवसरके अनुकूल हो, स्वरके साथ कही जाय, उसका एक-एक शब्द स्पष्ट कहा जाय, और वह मधुर हो।

भाषाकी शुद्धतासे तात्पर्य्य यह है कि शब्द समुचित रीतिसे लोक-व्यवहार-सिद्ध, मुहावरेदार तथा व्याकरण-सिद्ध हों। किसीके आनेपर हम कहते हैं—आइए, पधारिए, आसन ग्रहण कीजिए। यदि उसके स्थानपर हम कहें कि आइए कुर्सी पकड़िए, तो अनुचित ही कहा जायगा। यद्यपि 'ग्रहण कीजिए' का अर्थ 'पकड़िए' हो सकता है किन्तु लोक-विरुद्ध होनेके कारण यह अशुद्ध प्रयोग है। व्याकरणकी अशुद्धि तो हम लोग पद-पदपर करते हैं। पूर्वी संयुक्त प्रान्तमें 'ने' का प्रयोग बोलचालमें नहीं होता। वे कहते हैं—'राम दसरथसे कहे'। हमें न तो उचित

लिङ्गोंका प्रयोग ज्ञात है और न हम यह जानते हैं कि किस संज्ञाके साथ क्या विशेषण लगाना चाहिए। 'हमने दही खाई, हाथी आती है' आदि प्रयोग पूर्वीय प्रान्तोंमें बहुतसे मिलेंगे। विदेशी शब्दोंका लिङ्ग-निर्णय तो अभी-तक हो ही नहीं सका है। ऐसे शब्दोंके लिये एक व्यापक नियम यह है कि विद्वान् लोग जैसा प्रयोग करते हों वैसा ही प्रयोग किया जाय।

शब्दोंका समुचित चुनाव करते समय हमें इस बातपर ध्यान देना चाहिए कि हमारे चुने हुए शब्द प्रभावोत्पादक तो हों पर कुरुचि उत्पन्न न करें। 'अबे' जैसे शब्दोंका प्रयोग अशिष्टता सूचित करता है। कुछ लोग भाषामें प्राची-नताका पुट देनेके लिये ऐसे शब्दोंका प्रयोग कर बैठते हैं जिनका प्रयोग उठ चुका है। उदाहरणके लिये, 'पण्डितजी बोले' के स्थानपर 'पंडितजी भाखते भए' कहना। स्पष्टतः 'भाखते भए' का प्रयोग व्यंजनाकी दृष्टिसे बहुत उत्तम है पर ऐसे प्रयोगोंमें अत्यन्त सावधानी रखनी चाहिए। इसी तरह हम जब विद्रूपमें 'गिड़गिड़ाने लगे' की जगह 'वे गिड़गिड़ाय-मान हो गए' कहते हैं तो हमारा उद्देश्य परिहासात्मक प्रभाव उत्पन्न करना ही होगा पर किसी विद्यार्थीके कानमें इसकी भनक पड़ना भी अवांछनीय है। इसके साथ ही बोलनेके समय देश-काल-पात्रका भी विचार होना चाहिए अर्थात् अवसर देखकर मुँह खोलना चाहिए। शोक प्रकट करते समय चिल्ला-चिल्लाकर बोलना उसी प्रकार व्यर्थ है जैसे किसीपर अत्यन्त क्रुद्ध होकर उसके कानमें धीरेसे

कहना कि मैं तुम्हें मार डालूँगा। बोलते समय सस्वरता और भावानुसार वाणीके उतार-चढ़ावपर भी ध्यान रखना चाहिए। इसके अभावमें भाषण नीरस और प्राणहीन हो जाता है तथा श्रोतापर उसका कुछ प्रभाव भी नहीं पड़ता।

यही देखकर पुरानी दुनियाके एक श्रेष्ठ मनीषी प्लुतार्कने कहा था कि तुम बात वही कहते हो जो तुम्हें कहनी चाहिए पर उस ढंगसे नहीं कहते जिस ढंगसे कहनी चाहिए। आज भी प्लुतार्कका उक्त कथन तथ्य-हीन नहीं हुआ है। हम किसी प्रकार बोल भर लेते हैं। बोलनेका ढंग तो हमें आज भी नहीं मालूम। जैसा कि हम कह चुके हैं, बोलनेमें दो वस्तुओं-की आवश्यकता पड़ती है—एक अच्छा विषय दूसरे अच्छा ढंग। अच्छे ढंगसे बोलनेका तात्पर्य्य है स्वाभाविक ढंगसे बोलना। स्वाभाविक ढंगसे बोलनेकी आदत डालनेके लिये यह आवश्यक है कि बात हृदयसे निकले। लन्दनके बिशप प्रोटियस द्वारा यह पूछे जाने पर कि तुम इतना अच्छा अभिनय कैसे करते हो, प्रसिद्ध अभिनेता बिटार्टनने कहा—इसलिये कि हम इसे हृदयसे करते हैं।

लोगोंका कहना है कि पूज्य मालवीयजीके मुँहसे एक-एक शब्द मोतीकी तरह निकलते हैं। इसका तात्पर्य्य यही है कि प्रत्येक अक्षर शुद्ध और प्रत्येक शब्द उचित ध्वनिके साथ निकलता है और श्रोताके हृदय पर टाइपकी मशीनके अक्षरके समान छपता चला जाता है। हमें स्पष्ट भाषा-भाषीके विचारोंका ही केवल आनन्द नहीं मिलता, उसकी वाणीका भी हम पर एक विचित्र अवर्णनीय प्रभाव

पड़ता है। हृदय खिल उठता है, कान उसकी वाणी सुननेके लिये लालायित हो उठते हैं। ऐसी ही वाणी वालेके लिये लोग कहते हैं—'उसकी ज़बानमें जादू है।' यही वाणीका फूल बरसाना है।

इस सम्बन्धमें अन्तिम बात है मधुरता। यही वशीकरण मन्त्र है।

मीठी बानी बोलिए मनका आपा खोय।
आपहुको सीतल करै औरौ सीतल होय॥
तुलसी मीठे बचनतें सुख उपजत चहुँ ओर।
वशीकरण इक मन्त्र है परिहरु बचन कठोर॥

भाषणमें पटुता प्राप्त करानेके लिये शिक्षा-शास्त्रियोंने निम्नलिखित उपायोंका निर्देश किया है—

१. शिष्टजन-संसर्ग।

२. कक्षामें विभिन्न अवसरोंके योग्य बोल-चालके पाठों-वाली पुस्तकोंकी सहायतासे अभ्यास कराना।

३. मौखिक रचना द्वारा।

४. नाटक द्वारा।

इनमेंसे प्रथम तो सहज और स्वाभाविक है। भले घरोंके बच्चे स्वभावतः मिष्टभाषी और शिष्ट होते हैं।

सच पूछिए तो शिष्ट और व्यवहार-भाषा राजदरबारमें रहनेवालों तथा भलेमानसोंके यहाँ बैठक लगाने वालोंको अत्यन्त शीघ्र आ जाती है, किन्तु बेचारा अध्यापक ऐसी

परिस्थिति तबतक उत्पन्न नहीं कर सकता जबतक गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली हमारे देशमें अनिवार्य्य न हो जाय। कॉन्वेण्ट स्कूलोंमें पढ़नेवाले विद्यार्थियोंकी अँगरेजी अच्छी होनेका कारण वहाँकी कक्षाकी पढ़ाई नहीं है बल्कि वहाँका वातावरण है।

विभिन्न अवसरोंके योग्य भाषाका अभ्यास कक्षामें कराने-के लिये अत्यन्त चतुर अध्यापककी आवश्यकता है क्योंकि अभी तक हमारे शिक्षा-साहित्यमें ऐसी व्यवहार-शिक्षक पुस्तकोंका सर्वथा अभाव है। यदि विचक्षण भाषा-पटु विद्वानोंकी लिखी हुई—कोरे साहित्यिक लेखकों या संग्रह-कर्त्ताओंकी लिखी नहीं—पुस्तकें प्राप्त हों तो कक्षामें भी संवाद द्वारा शुद्ध भाषणकी शिक्षा दी जा सकती है।

मौखिक रचना तो लिखित रचनाका प्रारम्भिक स्वरूप मात्र है। वह भाषण-पटुता प्राप्त करानेमें कितनी सहायता दे सकेगा यह संदिग्ध है। इसका विवेचन रचना-शिक्षणके साथ किया जायगा।

भाषण-शिक्षणके लिये नाटक एक महत्वपूर्ण साधन है। इतिहास इस बातका साक्षी है कि बहुधा बड़े-बड़े वक्ता अपने जीवनके प्रभात कालमें रङ्गशालाके नट अवश्य रहे हैं। रङ्गशाला ही वह उपयुक्त स्थल है जहाँ कोई भी व्यक्ति अवसरोपयुक्त भाषाके साथ-साथ उसको कहनेका—भावको उचित रूपसे प्रकट करनेका—ढंग भी सीख जाता है। उसकी वाणी सध जाती है, गला मँज जाता है, फेफड़े अपनी शक्तिका उपयोग करना

जाने जाते हैं और ध्वनि उत्पन्न करनेवाले सब यन्त्र अपनी मर्य्यादा समझ लेते हैं। अतः स्कूलोंमें भाषण तथा बोल-चालकी उचित शिक्षा देनेके लिये रङ्गशालाकी शरण लेनी चाहिए। इसके लिये यह आवश्यक नहीं है कि रङ्ग-शालाकी सारी सामग्रियाँ प्रस्तुत हों। एक सीधे-सादे मञ्च-पर नटोंके समान प्रवेश और प्रस्थानके साथ सुन्दर भाव-पूर्ण संवाद कराकर भी इस उद्देश्यकी सिद्धि की जा सकती है। इससे कण्ठ खुलता है, हियाव खुलता है, ठिठक भाग खड़ी होती है। वाग्युद्धमें अभिनेताको कोई परास्त नहीं कर सकता। वह सैकड़ों, हजारों, लाखोंके सामने तनकर खड़ा हो जायगा और उसकी वाणीके उतार-चढ़ावके साथ-साथ जनसमूह कभी हँसीसे लोटपोट होगा, कभी आँसुओंसे जलधारा बरसावेगा। बोलचाल सिखानेका यही उद्देश्य है, यही इच्छित फल भी है।

५
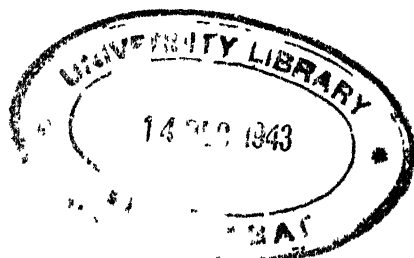
लिपिकी समस्या

मनुष्यके पास भाव प्रकट करनेके तीन साधन हैं। वह बोलकर, लिखकर या इशारेसे अपने हृदयका भाव प्रकट कर सकता है। उक्त तीनों साधन मनुष्यके बुद्धि-विकासका क्रम सूचित करते हैं। प्रागैतिहासिक कालमें जब मानवता वनवृक्षोंके हिंडोलेपर झूलती थी, पशुओंका कच्चा माँस ही मनुष्यके लिये षट्रस व्यञ्जन था उस समय मनुष्यकी मूक भाषामें शरीरके विभिन्न अंग ही वर्णमालाका काम करते थे। उस समय हम इशारों और कुछ अस्पष्ट ध्वनियोंसे ही अपना सारा काम चलाया करते थे। धीरे-धीरे हम तुतला-तुतलाकर बोलने लगे। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि आज भी बोलने और लिखनेके साथ-साथ इशारेसे

काम चलानेकी कला हमें उन्हीं पूर्वजोंसे उत्तराधिकारमें मिली हैं। बड़े होनेपर हमारी तुतलाहट भी छूटी और हम स्पष्ट शब्दोच्चारण करने लगे।

उक्त अवस्था बहुत दिनों तक बनी रही। फिर समझदार होनेपर हम मनुष्योंने लिखनेका प्रयत्न करना आरम्भ किया अर्थात् ध्वनिकी प्रतीक रेखाओंका आविष्कार किया। इतने बड़े आविष्कारके अनुरूप उपकरणोंका हमारे पास सर्वथा अभाव था। अक्षरोंमें गोलाई, सुडौलपन आदि लानेका कोई साधन न था। हम किसी प्रकार उल्टी-सीधी रेखाएँ खींचकर वर्णमालाके अभावकी पूर्त्ति करने लगे। धीरे-धीरे आवश्यक उपकरण प्रस्तुत हुए और फलस्वरूप उन्हीं उल्टी-सीधी रेखाओंने आज हमारी वर्णमालाके सुन्दर सुडौल अक्षरोंका रूप धारण किया है। आज लिखने-पढ़नेका व्यापक प्रचार हो गया है इसलिये चाहे हम लिखावटको कोई महत्व न दें पर इससे इसके आविष्कारकी महत्ता तिल भर भी कम न होगी। आज भी मनुष्यकी असभ्य और आदिम अवस्थाके प्रतिनिधि जंगलियोंके लिये लिखावट किसी करामातसे कम नहीं है। उनके लिये आज भी यह एक पहेली ही है कि कहींपर कोई मनुष्य टेढ़ी सीधी रेखाओं द्वारा अपने मनकी बात कैसे बता देता है और दूसरा मनुष्य उन्हीं रेखाओं द्वारा उसकी सारी बातें कैसे समझ लेता है। इतना ही नहीं चिट्ठी पढ़कर भी क्रोध, प्रेम, करुणा आदि भाव वैसे ही उमड़ पड़ते हैं जैसे देख या सुनकर। ऐसी स्थितिमें 'ऐसी बानी बोलिए' वाले

दोहेमें 'ऐसा लेख न कीजिए' संशोधन कर दिया जाय तो क्या बुरा होगा।

कहनेका तात्पर्य्य यह है कि लिखावटकी शिक्षाका भी अपना विशेष स्थान है। हमारे यहाँ अँगरेजोंके आगमनके पहले तक 'लिखना' सिखानेपर बहुत जोर दिया जाता था। यहाँ लिखनेका अभिप्राय लिखित रचनासे नहीं बल्कि सुडौल और सुन्दर लिखावटसे है। इस अर्थमें लिखनेका मुहावरा ही चित्रलेखनसे आया है। तस्वीर खींचना और चित्र लिखना पर्यायवाची मुहावरे हैं। अपढ़ हिन्दू आज भी लिखना शब्दका व्यवहार चित्रलेखनके ही अर्थमें करते हैं। वे ब्याह-शादीके अवसरपर अपने घरमें गणेशजीकी तस्वीर नहीं बनवाते बल्कि 'लिखना रखवाते' हैं। इसीसे समझा जा सकता है कि हमारे यहाँ लिखना केवल कागजपर कलम घसीटना नहीं था, उसमें चित्र-लेखनकी तरह अभ्यास करना पड़ता था। फारसीमें अत्यधिक सुन्दर और सुडौल अक्षरोंको नस्तालीक कहते हैं। किसी जमानेमें नस्तालीक अशर्फियोंके मोल बिकता था। इसके विपरीत शिकस्त फारसी लिपिकी वह लिखावट है जो खुर्राट पढ़नेवालोंके भी दाँत खट्टे कर देती है। यह घसीट लिखावट लिखनेवालेसे भी कभी-कभी नहीं पढ़ी जाती। हमारी अदालतोंमें आज दिन इसी लिपिका प्रचार है जिसकी कृपासे प्रति दिन आमकी इमली और इमलीका अङ्कर हुआ करता है और फिर भी परम वैज्ञानिक नागरी लिपि इस अप्राकृतिक शिकस्त द्वारा अपमानित की जाती है।

हमारा उद्देश्य यहाँ नागरीकी वकालत करना नहीं है।

मुद्रणयन्त्रोंके आविष्कारने लेखनकलाकी हत्या कर दी। प्रदर्शनियोंमें आए हुए पुराने लेखोंके सराहनीय संग्रहोंके देखनेसे उस समयकी विचित्र लेखन-कुशलता हमारी आखें खोल देती हैं। विभिन्न आकारके छापेके अक्षरोंमें भी वह सौन्दर्य, वह अनेक-आकारता और वह अनेक-स्वरूपता देखनेको नहीं मिलती जो उन कला-विद् लेखकोंकी लिखावटमें मिलती है। एक चावलके ऊपर सूईसे खुदे हुए एक पूरे श्लोकमें एक भी अक्षर अशुद्ध या विकृत नहीं मिलता। एक पोस्टकार्ड जितने बड़े कागजपर पूरी श्रीमद्भगवद्गीता लिखी हुई मिलती है जिसका एक भी अक्षर न तो बिगड़ा है और न अशुद्ध लिखा गया, न कोई अक्षर पंक्तिच्युत हुआ न रेखाच्युत। एक-एक अक्षर मोतीके समान तारमें पिरोया हुआ सा जान पड़ता है। उस कलाके दर्शन मात्रसे वाणी स्तंभित हो जाती है। उस लेखन-कलाकी पवित्र आलोकमयी, सौन्दर्यमयी चित्रशालामें मुद्रणयन्त्रके प्रवेश होते ही लेखन-कलाको साँप सूँघ गया—काठ मार गया। धड़ाधड़ साहित्यका अम्बार लग गया पर वैसा ही—गुदड़ी बाजार-की शोभा बढ़ानेवाला। न जाने कितने सुलेखक अपनी कोमल कलामय अँगुलियोंको लिए-दिए भूखे पेटकी ज्वाला लेकर विज्ञानको कोसते हुए इस संसारको नमस्कार करके चल बसे।

मुद्रणयन्त्रने हमारी कला-विकासिका बुद्धिको निश्चेष्ट

कर दिया। हमने लेखनकलाके ललित विलासकी चिन्तना भी त्याग दी। इस व्यापक उदासीनताका परिणाम बड़ा त्रासकारी हुआ। हमारी लिपि अनभ्यस्त, बहुधन्धी, असावधान तथा आलसी हाथोंमें पड़कर बिगड़ गई। हमारी लिपिका वह अलौकिक गौरव लुप्त हो गया कि वह शुद्ध लिखी और पढ़ी जा सकती है।

अँगरेजी अक्षरोंकी देखादेखी घसीट लिखनेकी प्रवृत्ति अँगरेजी पढ़े-लिखे लोगोंमें बल पकड़ती जा रही है। ये लोग अपना नाम ऐसी बुरी तरह लिखते हैं कि उसका एक भी अक्षर स्पष्ट नहीं होता। एक न्यायकर्त्ताके विषयमें प्रसिद्ध है कि वह तीन प्रकारसे लिखता था। एक तो वह स्वयं पढ़ सकता था, दूसरा केवल उसका मुहर्रिर पढ़ सकता था और तीसरेको वे दोनों भी नहीं पढ़ सकते थे। अतः यह घसीट लिखनेकी प्रवृत्ति शीघ्र न रोक दी गई तो हमारी लिपिकी वही दुर्दशा और बदनामी होगी जो फारसी लिपिकी हो रही है।

लिपिका प्रश्न उठते ही समुचित लिपिके चुनावकी समस्या भी सामने खड़ी हो जाती है। इसीके साथ-साथ राष्ट्रभाषाकी तरह राष्ट्रीय लिपिका प्रश्न भी उपस्थित होता है। हमारे यहाँ इन दिनों प्रत्येक काममें टाँग अड़ाने-की प्रवृत्तिने राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपिके प्रश्नको लेकर एक बखेड़ा सा खड़ा कर रक्खा है। इस दृष्टिसे विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि देवनागरी ही संसारकी सर्वोत्कृष्ट वैज्ञानिक लिपि है। यह प्रायः पूर्णता तक

पहुँच चुकी है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके अक्षरोंके नाम और उनके उच्चारण दोनों एक ही हैं। परन्तु इस पर कुछ कहनेके पूर्व लिपियोंके सम्बन्धमें आधुनिक लिपि-शास्त्रियोंकी सम्मति जान लेना आवश्यक है। उन लोगोंके अनुसार लिपियोंकी निम्नोक्त चार अवस्थाएँ हैं।

(१) आइडियोग्रैफिक—विचार-लिपि।

(२) पिक्टोग्रैफिक—चित्र-लिपि।

(३) सिलेबिक—अक्षर-(सस्वर) लिपि।

(४) अल्फाबेटिक—प्रतीकात्मक।

इन चार अवस्थाओंका विकास भी वे क्रमसे मानते हैं। प्रथम विचार-लिपिमें एक-एक विचारके लिये एक-एक चिह्न आता है।

द्वितीय चित्र-लिपिके द्वारा एक-एक पदार्थके लिए एक-एक चित्रका प्रयोग होता है। यदि 'घोड़ा' लिखना होता है तो घोड़ेका चित्र बना देते हैं। उक्त दोनों प्रकारकी लिपियाँ आज भी संसारकी असंस्कृत जातियोंमें प्रचलित हैं।

तृतीय अवस्था 'अक्षर-लिपि' अथवा 'सिलेबिक स्क्रिप्ट' की है। उक्त विद्वानोंका कथन है कि भारतीय लिपि वस्तुतः सिलेबिक स्क्रिप्ट है। क्योंकि भारतीय लिपियोंके चिह्न एक-एक ध्वनियोंके प्रतिनिधि न होकर एक-एक अक्षर-ध्वनि (सिलेबिल्) के प्रतिनिधि हैं। बच्चोंको जो 'क ख ग' पढ़ाए जाते हैं वे वस्तुतः एक-एक ध्वनि नहीं हैं वरन् एक-एक सिलेबिल् अर्थात् सस्वर व्यंजन 'क् + अ' इत्यादि हैं।

चतुर्थावस्था प्रतीकात्मक वर्णमालाकी है, जैसे ग्रीक या रोमन वर्णमालाएँ हैं। इन वर्णमालाओंमें एक-एक वर्ण एक-एक ध्वनिके प्रतीक हैं। अर्थात् 'एन्' केवल 'न्' का ही प्रतीक है। यह तो उनके मतकी स्थापना हुई। अब जरा इसपर एक समीक्षात्मक दृष्टिपात कर लेना चाहिए।

इन चारों उपर्युक्त अवस्थाओंकी कल्पना करनेवाले प्रधानतः पाश्चात्य विद्वान् ही थे। उन लोगोंने अपनी सुविधाके अनुकूल कल्पना कर ली और सबसे विकसित अवस्था अपनी वर्णमालाकी सिद्ध करनेके लिये उसका नाम भी 'अल्फ़ाबेटिक' अर्थात् ग्रीक वर्णमालाके 'अल्फ़ा, बीटा' के नामपर रख लिया। उनके सिद्धान्तके अनुसार नागरी वर्णमाला अभी उस विकसित अवस्था तक नहीं पहुँची है जिस अवस्थातक 'ग्रीक' या 'रोमन' वर्ण-मालाएँ। किन्तु उनका यह यत्न अन्धकार करनेके लिये सूर्य पर धूलि प्रक्षेपण सा ही है। कोई भी निष्पक्ष-विचार-शील व्यक्ति उनकी युक्तिको तर्ककी कसौटी पर कसकर युक्ति-संगत नहीं कह सकता। नागरी लिपिकी वैज्ञानिकताका निराकरण न होकर उक्त मतसे उसकी पुष्टि ही होती है। क्योंकि उनके यहाँ वर्णोंके नाम दूसरे रखने पड़ते हैं और उसके द्वारा बोध दूसरे का होता है। इसका परिणाम यह होता कि बालकोंको पहले तो वर्णोंके नाम याद करने पड़ेंगे और तदनन्तर यह भी याद रखना पड़ेगा कि यह किसका प्रतीक है। पर नागरी लिपिकी विशेषता सर्व-प्रसिद्ध ही है कि हम जो लिखते हैं वहीं पढ़ते

हैं। अतः बालकोंको दो बार परिश्रम करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। यह एक ध्यान देनेकी बात है कि 'सी' कहना और उसे 'क्' का प्रतीक समझना, 'जी' कहना और उसे 'ग्' का प्रतीक समझना बच्चोंके लिये कितना कठिन है और देखने-सुननेमें भी कितना अभव्य प्रतीत होता है।

डा० सुनीतिकुमार चैटर्जीका कहना है कि नागरीको अक्षरावस्थासे निकालकर प्रतीकावस्थामें लानेके बदले हम 'रोमन' लिपिको स्वीकार कर लें। पर रोमन लिपिको वे दूसरी तरह स्वीकार कराना चाहते हैं। उनका कथन है कि रोमनके 'ए, बी, सी' आदिको 'ए, बी, सी' आदि न कहकर उसका नाम 'अ, ब, स' रक्खा जाय। जो ध्वनियाँ रोमनमें नहीं हैं जैसे 'ट ठ' या 'श' आदि, उनके लिये नये चिह्न बनाए जायँ। इस प्रकार रोमन लिपिको संशोधित, परिवर्त्तित और परिवर्द्धित कर तथा उनके वर्णोंको नागरी नाम प्रदान कर उसे अपना लिया जाय। इस प्रकार श्री चैटर्जी समझते हैं कि जो नई वर्णमाला निर्मित होगी वह सब दोषोंसे मुक्त होगी। पर श्री चैटर्जीने जिस प्रकार दोष-परिहार करना चाहा है वह व्यर्थ है। जिस अक्षरत्व (सिलेबिक) दोषको हटानेके लिये उक्त परिवर्त्तनकी आवश्यकता पड़ती है वह दोष ज्योंका त्यों रह जाता है। 'अ' 'ब' 'स' पढ़ाने पर भी यह वर्णमाला 'सिलेबिक' ही रह जायगी क्योंकि बिना किसी स्वरके व्यंजनका उच्चारण ही असंभव है। यदि ग्रीक या रोमनके समान प्रतीकात्मक लिपि बनाते हैं तो प्रतीक और प्रतीकबोध्य ध्वनि दो बातें याद करनी पड़ती हैं। इतने पर भी 'ब' के लिये

ईकारका सहारा लेना पड़ता है। अतः यही उचित है कि एक ही प्रकार केस वर 'अ' के योगसे सबका उच्चारण किया जाय।

एक बात और है। संस्कृतमें लघुसिद्धान्त-कौमुदी पढ़नेवाला छात्र भी यह जान जाता है कि व्यञ्जनोंके अकार केवल उच्चारणार्थक हैं। अस्तु हम तो यही कहेंगे कि नागरीका दोष कोई दोष नहीं किन्तु दोषाभास है। साथ ही नागरीकी वर्णमाला 'सिलेबिक' न होकर 'फोनेटिक' है अर्थात् लिपिकी जो उक्त चार अवस्थाएँ हैं, नागरीका स्थान उसके अनन्तरकी विकसित वर्णमालाकी पाँचवीं अवस्था ध्वन्यात्मक अथवा 'फ़ोनेटिक' है। इस विषयमें और विचार आगे किया जायगा। यहाँ केवल इतना कह देना आवश्यक है कि अवाञ्छनीय 'रोमन' लिपिकी स्वीकृतिके कारण हमारी नागरी लिपिकी वैज्ञानिकताकी ही हत्या नहीं होगी वरन् 'ब्राह्मी' लिपिके एवं आधुनिक अन्य आर्य भारतीय लिपियोंके साथ समानताके कारण नागरीका जो अविच्छेद्य सम्बन्ध है उसकी भी वैज्ञानिकताके नाम पर अवाञ्छनीय हत्या हो जायगी।

हम ऊपर कह चुके हैं कि नागरी अक्षरोंके नाम और उच्चारण दोनों एक ही होते हैं। संसारमें प्रचलित अन्य लिपियोंमें यह बात नहीं पाई जाती। उनमें अक्षरकी संज्ञा कुछ और उच्चारण कुछ हुआ करता है। उदाहरणके लिये लैटिन, ग्रीक और अरबी आदि प्रमुख प्रचलित लिपियोंको लेकर विचार किया जा सकता है।

रोमनमें यदि अक्षरका नाम ए है तो उसका उच्चारण विभिन्न परिस्थितियोंमें अ आ और ए होगा। अक्षरकी संज्ञा होगी वी परन्तु पढ़ा जायगा व। उक्त वर्णमाला अँगरेजीमें आकर और भी दोषपूर्ण हो जाती है। एक ही रूपरेखा होते हुए भी उसके उच्चारणमें इतना बड़ा अन्तर आ जाता है कि उसके औचित्यको हृदयङ्गम करना टेढ़ी खीर ही समझिए। एक उदाहरण पर्य्याप्त होगा। रोमन वर्णमालाके सी और एच्को मिलाकर तीन-तीन उच्चारण बनाए जाते हैं—शेमीज़ (Chemise) और शोफ़र (Chauffeur) में सी एच्का सम्मिलित उच्चारण श होता है। चार्टर (Charter) और चौक (Chalk) आदिमें वही सी एच् = च पढ़ा जाता है और स्कौलर (Scholar) या कौलरा (Cholera) हो जानेपर उसका उच्चारण क होने लगता है। यह गड़बड़ी यहीं समाप्त नहीं होती। उलट-पलटकर एक साथ दो-चार अक्षरोंका नाम ही ले लेनेसे कभी-कभी वाक्यका भ्रम हो जाना भी संभव है। मामूली अँगरेजी जाननेवालेके साथ रोमन वर्णमालाके अभ्यास करने वालेको बैठाकर यदि कोई 'आइ सी ए बी' लिखनेको कहे तो पहला व्यक्ति इसे पूरा वाक्य समझकर इस प्रकार लिखेगा—I see a bee अर्थात् मैं एक मक्खी देखता हूँ जब कि वर्णमालाका अभ्यासी केवल चार अक्षर (I C A B) ही लिख देगा।

अव्यवस्थाकी दृष्टिसे रोमनके मुकाबले ग्रीक वर्णमाला भी जौ भर कम नहीं है। उसमें अ अथवा आ उच्चरित

होनेवाले वर्णका नाम अल्फ़ा है। अक्षरका नाम बीटा होते हुए भी उसका प्रयोग ब के स्थानपर किया जाता है। इप्सिलोन जैसा दीर्घ नामधारी वर्ण केवल ई का काम करता है।

इन्हीं दोनोंसे मिलती जुलती अवस्था अरबी और फारसी वर्णमालाकी भी है। उसमें अलिफ़ बे पे आदि तो अक्षरोंके नाम रहते हैं किन्तु उनका उच्चारण होता है अ ब प आदि। अरबीकी एक निकृष्टता और भी है, वह है उसकी प्रतीकरंकता। रोमन और ग्रीक वर्णमालामें सभी ध्वनियोंके द्योतक अक्षर भले ही न हों, वर्णकी संज्ञा और उच्चारणमें भले ही आकाश-पातालका अन्तर हो पर उनमें ध्वनि-निर्देशक प्रतीकोंका दिवाला नहीं है। अरबीकी तरह उनमें यह बात नहीं है कि एक ही आड़ी लकीरपर नीचे ऊपर एक दो तीन बिन्दु लगाते चलें और उनको बे पे ते टे से आदि पढ़ते चलें। उनमें ए और बी, एक्स और वाई, मू और नू, तथा इयोटा और कप्पाके रूपोंमें काफी अन्तर रहता है। उन्हें चाहे जितनी क्षिप्रता और जल्दबाजीसे लिखा जाय पर कभी 'गधी' और 'गढ़ी' में भ्रम होनेकी सम्भावना नहीं होती। अरबीका बिन्दु प्रयोग दो यमज बहिनोंको उनके चिबुक और कपोलके तिल द्वारा पहचाननेके प्रयत्नके समान है।

इस प्रकार नागरी लिपिकी सर्वोत्कृष्टता स्वयं सिद्ध हो जाती है परन्तु इसमें संशोधन करनेकी इच्छा नागरी भाषा और लिपिके मूल तत्वोंसे सर्वथा कोरे अहम्मानियोंकी अनधिकार चेष्टा ही कही जायगी। इस सम्बन्धमें कुछ तथा-कथित विद्वानोंने ऐसी-ऐसी उद्भट कल्पनाएँ की हैं कि

उन्हें देख-सुनकर हँसी आती है। साथ ही जो अपने त्यागके कारण हमारे श्रद्धास्पद बन चुके हैं उनके मुँहसे निकली हुई बेसिरपैरकी बातें पढ़ और सुनकर सात्विक कष्ट होता है। कुछ दिन हुए एक वयोवृद्ध गुजराती नेताने यह अ-भूतपूर्व आविष्कार किया कि नागरी लिपिमें इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ व्यर्थ हैं। केवल अ पर विभिन्न मात्राएँ लगाते चलनेसे काम चल सकता है। दूसरी ओर एक भारतीय नेताने यह घोषणा की कि भारतकी राष्ट्रीय लिपि होनेकी क्षमता केवल रोमन लिपिमें ही है। इसीके साथ शायद वे यह कहना भूल गए कि भारतकी राष्ट्रभाषा भी फ़्रेञ्च ही हो सकती है। एक तीसरे महाशयने मुद्रण-सम्बन्धी कठि-नाइयोंका उल्लेख करते हुए नागरी लिपिमें अवाञ्छनीय परिवर्त्तन करनेकी सलाह दी है जिसका समर्थानात्मक उल्लेख शिमलाके सत्ताइसवें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके सभापति महोदयने भी अपने अभिभाषणमें किया था।

६

देवनागरी लिपि

उक्त लिपियोंपर विवेचनात्मक दृष्टि डाल लेनेके पश्चात् इस बातपर विचार करना चाहिए कि वास्तवमें वैज्ञानिक लिपि कहलानेके लिये किसी लिपिमें क्या-क्या गुण होने आवश्यक हैं। इस सम्बन्धमें पाँच बातें उल्लेखनीय हैं।

१—लिपि देखनेमें सुन्दर होनी चाहिए अर्थात् उससे आँखोंको कष्ट न हो, सुख मिले क्योंकि लिपिका कलात्मक विकास हुआ है, विज्ञानसे उसको कोई सम्बन्ध नहीं।

२—जिस भाषाके लिये लिपिका प्रयोग हो उसकी सब ध्वनियोंके प्रतीक उसमें आ जायँ।

३—लिपि शुद्ध हो अर्थात् जो लिखा जाय वही पढ़ा जाय। किश्ती लिखकर कस्बी पढ़नेकी बारी न आवे।

४—उसमें एक ध्वनिके लिये एक ही चिह्न हो। फारसीकी तरह केवल स की ध्वनि निकालने वाले सीन, स्वाद् और से नामक तीन-तीन अक्षर न हों।

५—लिखते समय प्रत्येक शब्दका अलग-अलग रूप हो, अक्षरोंका समूह मात्र नहीं। जैसे 'परमेश्वर' एक पूर्ण शब्द-रूप है। इसे अलग अलग 'प र मे श्व र' न लिखा जाय।

उपर्युक्त कसौटी पर प्रचलित नागरी लिपिके साथ संशोधित कहलाने वाली लिपियोंको कसकर देखिए तो अपने आप यह प्रकट हो जायगा कि नागरी लिपि निर्दोष, सर्वगुण-सम्पन्न और भारतकी ही नहीं बल्कि सारे संसारकी एक मात्र लिपि होनेके योग्य है। इसमें किसी प्रकारका संशोधन, परिवर्त्तन या परिवर्द्धन होनेसे यह लिपि न रहकर लीपी हुई वस्तु हो जायगी।

जैसा कि कहा जा चुका है लिपिका पहला गुण है नेत्ररंजकता। अक्षर सुन्दर होनेसे ही लिपिका कलात्मक रूप निखरता है। इस दृष्टिसे हमारी नागरी शिरोरेखा-युक्त होनेके कारण सुन्दर लिपि कही जा सकती है। आवश्यकता-नुसार अक्षर गोल-गोल और बड़े-बड़े होनेके कारण उसकी सुन्दरतामें चार चाँद लग जाते हैं। रोमन लिपिको अष्ट

कर देने वाला नुकीलेपनका दुर्गुण हमारी लिपिमें शिरो रेखा होनेके कारण स्वयं नष्ट हो गया है। उसके अतिरिक्त नागरी लिपिमें नागरी भाषाकी ध्वनियाँ ही नहीं बल्कि सारे सभ्य संसारकी ध्वनियाँ स्पष्टता-पूर्वक निर्दिष्ट की जा सकती हैं। रोमन लिपि द्वारा यह काम कभी नहीं हो सकता। ऋ, ङ, त्त, ढ़, ड़ आदि ध्वनियोंके स्पष्टीकरणका कोई उपाय रोमन लिपिमें नहीं है। रोमन लिपिके पक्षमें एक दलील यह भी दी जाती है कि वह उर्दूकी तरह बहुत जल्दी लिखी जा सकती है। यह तर्क भी निस्सार है। जल्दी लिखा जाना ही किसी लिपिका गुण नहीं हो सकता। लिपिकी विशेषता इसमें है कि वह उतनी ही तेजीके साथ लिखी जाय कि वह शुद्ध-शुद्ध पढ़ी जा सके। ध्वनिपूर्णताके सम्बन्धमें हम फारसी लिपिकी अक्षमता दिखा चुके हैं। अब रोमनकी दुर्बलता देखिए। मान लीजिये हमें असर लिखना है। रोमनमें इसे यों लिखेंगे—Asar जिसे हम असर, आसार, आसर और असार पढ़ेंगे। असर, आसारमें भूत भविष्यका भेद है। आसर असारमें एक पूरबको जाता है तो दूसरा पच्छिमको।

रह गया एक ध्वनिके लिये एक ही चिह्नका प्रयोग। इस दिशामें भी नागरीसे कोई लिपि स्पर्द्धा नहीं कर सकती।

अब पाँचवीं विशेषताके अनुसार प्रत्येक अक्षरका रूप अलग-अलग न रहकर शब्दका एक रूप बनना चाहिए। नागरी लिपिमें अक्षर अलग-अलग भी रहते हैं और शिरो-

रेखाके कारण शब्दमें एकरूपता भी आ जाती है। अलग-अलग अक्षर रहनेसे उन्हें पढ़नेमें आँखोंको बड़ा परिश्रम करना पड़ता है जब कि शाब्दिक एकरूपता रहनेसे केवल आदि और अन्तके अक्षरों पर दृष्टि पड़ते ही पूरे शब्दसे परिचय हो जाता है। यदि भिन्न रङ्गोंकी पचास चिड़ियँ अलग-अलग बैठी हों तो एका-एक उनकी संख्या और रङ्गका अनुमान करना कठिन हो जायगा परन्तु पचास फुट लम्बा और पचास रङ्गका अजगर तुरत आँखकी पकड़में आ जायगा। बात यह है कि आँखको जितने कम रूप देखने पड़ते हैं उतना ही उसे कम कष्ट होता है। इसके साथ ही अक्षर मिलाकर लिखनेसे वे आँखोंको सुन्दर भी लगते हैं। इसपर यह आपत्ति हो सकती है कि अक्षरका भला-बुरा लगना अभ्यास पर निर्भर है। परन्तु रोमनके लिखित और टाइपवाले अक्षरोंके तुलनात्मक मननसे यह आपत्ति मिट जायगी। टाइपमें प्रत्येक अक्षरका रूप अलग-अलग रहता है और आँखोंमें भालेकी तरह चुभता है। यह दूसरी बात है कि सतत अभ्यासके कारण हम इसका अनुभव न करें किन्तु हमारे युवकोंकी आँखोंपर पड़े हुए चश्मे इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। लिखनेमें उन्हीं अक्षरोंको मिलाकर शाब्दिक एकरूपता लानेकी चेष्टा की जाती है।

कुछ लोग ख के स्थान पर गुजराती ख (ખ) का प्रयोग करने की सलाह देते हैं। इस परिवर्त्तनका कारण यह बतलाया जाता है कि नागरी ख से र व का भ्रम होता है

और 'खाना' का 'रवाना' पढ़ा जाता है। इस सम्बन्धमें पहली बात तो यह है कि आजतक किसीने 'खाना'को 'रवाना' नहीं पढ़ा और फिर नागरी घ से गुजराती ખ इतना मिलता जुलता है कि नागरीके अभ्यासी विद्यार्थीको 'खड़ा' और 'घड़ामें' भेद करना कठिन हो जायगा।

हमारे नागरी अक्षर सदियों पुरानी परम्पराके अन्तर्भुक्त हैं। उनमें विकार लाकर लोग हमारी लिपिको अत्यन्त असंबद्ध बनानेके लिये उद्यत हुए हैं। यदि इन लिपियों का प्रचार हुआ—जिसकी सम्भावना बहुत ही कम है—तो वह दिन दूर नहीं जब कि वर्त्तमान नागरी अजायब-घरकी वस्तु हो जायगी। इससे सबसे बड़ी क्षति यह होगी कि इन अक्षरोंको देखकर इनकी परम्पराका पता लगाना असम्भव हो जायगा। हम अभी कह चुके हैं कि हमारी लिपि एक परम्परा विशेषके अन्तर्भुक्त है और वर्त्तमान अक्षरोंसे उसकी परम्पराका पता लगाया जा सकता है। उदाहरणके लिये ख को ले लीजिए। क्रमसे इसका रूप यों बदलता गया [illegible]। ये रूप उस समयके हैं जब हमारी वर्णमाला रोमनकी तरह विश्लिष्ट अवस्थामें थी। इसे संश्लिष्टावस्थामें लानेका श्रेय सम्राट् हर्षवर्द्धनको है जिन्होंने सारी ब्राह्मी लिपिको कलात्मक बनाया। उन्होंने ख को भी शिरोरेखा देकर सुन्दर बनाया और उसे इस प्रकार लिखा [illegible]। यही थोड़ा और विकसित होकर

और फिर वर्तमान ख बन गया है। इस परम्परासे गुजराती ખ का क्या सम्बन्ध ?

काशीके एक सज्जनने मुद्रण-सम्बन्धी सुविधाके लिये ऊपर मात्रा न लगाकर अक्षरके बगलमें मात्रा लगानेका अनुरोध किया है। कुछ लोगोंका यही विचार है कि मात्रा-युक्त नागरी अक्षर रोमनकी अपेक्षा अधिक स्थान लेते हैं। पर यह विचार भ्रमपूर्ण है। बारह पौइण्ट पाइकामें कसे हुए हिन्दी और रोमन दोनोंके अक्षर समान स्थान छेंकते हैं। जैसे—

श्रीकृष्ण Duty

इसकी विस्तृत चर्चा हम आगे चलकर करेंगे।

यह सब कहनेका तात्पर्य्य यही है कि हमारी वर्त्तमान नागरी लिपि स्वतः संस्कृत, सुन्दर और पूर्ण है। उसमें व्यर्थ परिवर्त्तन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। हमारा विश्वास है कि जब संसार वास्तविक अर्थमें बुद्धिमान होगा तो उस दिन नागरी लिपि ही संसार भरकी लिपि होगी। सरलतामें यह बेजोड़ है और बड़ी आसानीसे सीखी जा सकती है।

७

अक्षर-रचनाकी शिक्षा

लिपिः प्रशस्ता सुमनो लतेव केषां न चेतांसि मुदा बिभर्त्ति ।

"सुन्दर लिपि फूलोंवाली लताके समान किसको मोहित नहीं करती" ।

शुद्ध लिखावटके लिये चार आवश्यकताएँ निर्धारित की गई हैं ।

(१) —बैठनेका ठीक ढंग ।

(२) — कलम पकड़नेका ठीक ढंग ।

(३) — अक्षरोंका ललित विन्यास ।

(४) — अक्षरोंका सुडौलपन ।

१. बैठनेका ठीक ढंग—विद्यार्थीको इस प्रकार कमर सीधी करके बैठना चाहिए कि रीढ़की हड्डी बिलकुल सीधी रहे, झुके नहीं। पुरानी प्रथाके अनुसार बायाँ घुटना टेककर दाएँ घुटने पर पट्टी या कापी रखकर लिखनेकी प्रणाली अबतक प्रचलित है। इस मुद्रामें रीढ़की हड्डीको झुकनेका अवसर ही नहीं मिलता। विद्यार्थीकी आँखें भी पट्टी या कापीसे कमसे कम एक फुट दूरी पर रहनी चाहिएँ।

२. कलम पकड़नेका ढंग—नरकट आदि की लेखनीको उसकी जीभसे ऊपर अंगूठे और मध्यमासे ऐसे पकड़ो कि तर्जनी उसके ऊपर हो, साथ ही ४५° पर कटी हुई लेखनीकी जीभ इस प्रकार पट्टी या कागज पर बैठाकर चलाई जावे कि अक्षर विरूप न होकर ऐसे लिखे जायँ—

अ क ग ड ल स

३. अक्षरोंके ललित विन्याससे तात्पर्य्य यह है कि शब्दोंका रूप आँखोंको अच्छा लगे, उनके दर्शन मात्रसे उन्हें पढ़नेको जी ललच उठे। परीक्षामें प्रायः सुन्दर अक्षर परीक्षकको मंत्र-मुग्ध करके उसके हाथसे नंबर लूट ले जाते हैं। अतः प्रत्येक अक्षरकी बनावट शुद्ध और सुन्दर हो। 'उ' का निम्नलिखित रूप कलमकी लाग ठीक होनेपर भी लालित्यकी दृष्टिसे विरूप ही होगा—

उ उ

किन्तु 'उ' को ही यदि कलमकी लागके बिना केवल एक सी मोटाई या पतलेपनके साथ सुन्दर ढंगसे लिखें तो वह ऊपर लिखे हुए बेढंगे 'उ' की अपेक्षा कहीं अधिक नेत्ररञ्जक होगा।

४. अक्षरोंके सुडौल होनेका तात्पर्य यह है कि अक्षरका प्रत्येक अंग सानुपात हो, छोटा-बड़ा न हो। 'अ' का शुद्ध सुडौल रूप यह है—

यदि हम इसीके विभिन्न अंगोंके अनुपातका ध्यान न रखकर यों लिखें—

तो कितना बेढंगा जान पड़ेगा।

अक्षरोंके आकार तथा उनकी लेखन-गतिके सम्बन्धमें विशेषज्ञोंका कथन है कि अक्षर बड़े-बड़े और सुस्पष्ट होने चाहिएँ। उनमें आकार-साम्य होना चाहिए अर्थात् कोई अक्षर बड़ा और कोई छोटा न हो और मुख्य बात यह है कि अक्षर सीधे खड़े लिखे जायँ टेढ़े-मेढ़े न होने पावें। जैसे—

क	क
सीधा रूप	टेढ़ा रूप

और इन सबके साथ-साथ अक्षर शीघ्र लिखे जायँ। ऐसा न हो कि एक अक्षर गढ़नेमें दस मिनट लगें।

उक्त ढंगसे लिखनेमें कुशलता लानेके लिये तीन उपाय बताए गए हैं जिन्हें अनुलिपि, प्रतिलिपि और अनुलेखन कहते हैं। अनुलिपिके लिये बाजारमें विशेष लिपि-पुस्तकें बिकती हैं। उनमें सुन्दर सुडौल और बड़े-बड़े अक्षर छपे रहते हैं और नीचे इतना स्थान छोड़ दिया जाता है कि विद्यार्थी उसको देख-देखकर सुन्दर लिपिका अभ्यास कर सके। इस प्रकार अनुलिपिका अभ्यास करनेसे अक्षरोंमें सुडौलपन और एकरूपता आती है। जैसे—

भारतवर्ष सर्वश्रेष्ठ देश है।

कापी पर किसी पुस्तक या समाचार-पत्र आदिके लिखित अंशको लिपि-बद्ध करना प्रतिलिपि कहलाता है। प्रतिलिपिके अभ्याससे भाषामें शुद्धता आती है तथा शब्द-भाण्डार बढ़ता है।

तीसरा अभ्यास अनुलेखनका या श्रुतलेखका है। अनुलेखनमें एक व्यक्ति बोलता जाता है और अभ्यासार्थी उसे लिखता जाता है। इस अभ्यास द्वारा लिखनेमें क्षिप्रता आती है। विद्यार्थीको शीघ्रतापूर्वक सुनकर लिखनेका अभ्यास होता है।

ये ही बातें लिखावटके लालित्यके लिये भी आवश्यक हैं। लिपिको ललित बनानेके लिये तीन बातें और भी ध्यानमें रखनी चाहिएँ।

१. कागजके चारों ओर नीचे ऊपर दाएँ-बाएँ स्थान छूटा हो।

२. दो शब्दोंके बीचमें कमसे कम दो 'क' का स्थान छूटा हो।

३. दो पङ्क्तियोंके बीचमें एक पङ्क्तिकी मोटाईका अन्तर छूटा हो।

मान लीजिए निम्नलिखित कोष्ठक जितना बड़ा एक कागज है। उसमें इस प्रकार लिखना चाहिए—

देश-द्रोह सबसे बड़ा अपराध और पाप है। देशद्रोहीका कभी कल्याण नहीं हो सकता।

यहीं पर लिखावटके व्यावहारिक पहलूपर भी विचार कर लेना चाहिए। हम यह कह चुके हैं कि नागरी अक्षरोंके ध्वन्यनुकूल होनेके कारण वर्णमालाका ज्ञान प्राप्त करते ही बालक बोली हुई सभी बातें लिख सकता है। परन्तु हमारी वर्णमालामें ऋ, ष, और ज्ञ ये तीन अक्षर ऐसे हैं जिनके उच्चारणमें व्यापक अशुद्धि दिखाई देती है। इन अशुद्धियोंका परिष्कार उन विशेष शब्दोंके प्रयोगके बार-बार लिखवानेसे भी हो सकता है जिनमें वे अक्षर आते हों जैसे—ऋषि, ज्ञान, ऋग्वेद आदि। यहीं पर विद्यार्थीको इस पर भी ध्यान देनेकी शिक्षा देनी चाहिए कि वे 'ज्ञ, ऋ ष' अक्षरोंको अध्यापककी प्रत्यक्ष सुनी हुई ध्वनिके अनुसार न लिखकर उनके मूल स्वरूपके अनुसार लिखें क्योंकि इन ध्वनियोंमें विपर्य्यय होनेकी सम्भावना रहती ही है। जिन अक्षरोंके उच्चारणमें भूल होनेकी सम्भावना हो उन्हें बार-बार सामने लानेसे विद्यार्थी सँभल जाता है और शुद्ध लिखने और उच्चारण करने लगता है।

इस प्रकार शुद्ध लिखना आ जाने पर अनुच्छेद-रचना, हाशिया छोड़ने और विरामोंके उचित प्रयोग आदिकी शिक्षा दी जानी चाहिए। इसकी चर्चा हम रचना-शिक्षणमें आगे चलकर करेंगे।

८

पढ़ना सिखानेकी समस्याएँ तथा विधियाँ

शिक्षा-शास्त्रियोंमें अभीतक इस विषयमें गहरा मतभेद है कि पहले लिखना सिखाना चाहिए या पढ़ना। लिखना सीखनेवालेको तो पढ़ना आ ही जाता है किन्तु पढ़ना सीखनेवालेको लिखना भी आ जाय यह आवश्यक नहीं है। हममेंसे बहुतसे ऐसे लोग हैं जो बँगला, गुजराती आदि अन्य लिपियोंमें लिखी हुई या छपी हुई पोथियाँ पढ़ तो लेते हैं किन्तु एक पंक्ति भी लिख नहीं सकते। इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण है। जब हम पढ़ने लगते हैं तो पहचाने हुए अक्षरोंके अस्फुट स्वरूप भी प्रत्यक्ष होने पर उनकी स्मृति दिला देते हैं। और कभी-कभी तो कुछ पहचाने हुए अक्षरोंके सहारे ही हमें अपरिचित अक्षरोंका भी बोध हो जाता है। किन्तु लिखनेमें हमें कल्पना तथा अनुमानसे कोई आश्रय नहीं मिलता। जब तक

अक्षरकी बनावट, उसके प्रत्येक अंगके डील-डौल, उतार-चढाव, मोटाई-गहराई आदिका ज्ञान न हो तबतक लिखनेवालोंके लिये उस अक्षरका कोई अस्तित्व नहीं। उसके लिये 'घन' और 'धन' दोनोंका भेद समझना आवश्यक है। इसी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तके बल पर ही हमने पहले लिखना सिखानेकी विविध विधियोंपर क्रमशः विचार किया है।

अपनी लिपिकी विशेषताओंका उल्लेख करते हुए हम कह आए हैं कि हमारी लिपिके एक अक्षरका जो नाम है वही उसकी ध्वनि है। संभवतः इसी कारण हमारी भाषाके अध्यापकगण पढ़ना सिखानेकी अलग व्यवस्था करनेकी आवश्यकता नहीं समझते। उनके विचारसे अक्षर-बोध होते ही पढ़ना आ जाता है। कोई ह्रस्व-दीर्घकी अशुद्धि करता हो या संयुक्ताक्षरोंको तोड़कर उच्चरित करता हो या पढ़ते समय कोई अक्षर या शब्द छोड़ जाता हो तो उसको ठीक करके ही अध्यापक अपने कर्त्तव्य और धर्मकी इति समझ लेते हैं। किन्तु यह बात नहीं है। प्रत्येक लेखक जो कुछ लिखता है वह किसी उद्देश्यसे, किसी विशेष प्रभावको उत्पन्न करनेके लिये लिखता है। अत्यन्त ओजमयी भाषामें लिखा हुआ लेख भी अधम पाठकके मुँहसे नीरस, भावशून्य और निस्सार ही प्रतीत होगा। एक छोटा सा उदाहरण लीजिए। एक वाक्य है— 'तुम न मानोगे'। इसीको एक अध्यापक अपने शिष्योंसे एक ढङ्गसे कहेगा, स्त्री अपने मानी पतिसे दूसरे ढङ्गसे कहेगी। यदि पढ़नेवालेने पहलेको दूसरे ढङ्गसे और दूसरेको पहले ढंगसे पढ़ा तो समझिए कि उसने लेखकके भावोंका जीवित

आरम्भ कर दिया उसे लिच कर दिया। अतः पढ़नेकी शिक्षा देनेमें सर्वप्रथम कंठको साधनेकी अर्थात् भावके अनुसार स्वरके उचित उतार-चढ़ावकी शिक्षा देनी चाहिए।

पढ़ना सिखाने पर इतना श्रम क्यों किया जाय यह प्रश्न हमारे मित्र पूछ सकते हैं। इसका उत्तर हमारे उन्नत समाज-की आवश्यकताएँ ही दे सकती हैं। हमें अभिनंदन-पत्र पढ़ने पड़ते हैं, समाचारपत्र पढ़कर सुनाने पड़ते हैं, घोषणाएँ पढ़कर सुनानी होती हैं, लिखित अभिभाषण पढ़ने पड़ते हैं, सभा-समितियोंके विवरण पढ़कर सुनाने पड़ते हैं इसलिये ठीक ढङ्गसे पढ़नेकी शिक्षा देना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य्य है। कितने ऐसे लोग हैं जिनके पढ़नेके ढङ्गको सुनकर हम लोग मुसकराए होंगे, ठठाकर हँसे होंगे और कभी-कभी हँसी-के आवेशमें तालियाँ भी पीट दी होंगी। इनमें समाजके बड़ेसे बड़े और छोटेसे छोटे सभी लोग सम्मिलित हैं। इसमें उनका दोष नहीं है, उनकी शिक्षाका दोष है और हमारी हँसी और तालियाँ उनपर नहीं उनके शिक्षकों पर हैं।

पीछे तीसरे अध्यायमें हम पढ़नेके गुण-दोषोंका विस्तृत विवेचन कर चुके हैं अतः उसकी पुनरावृत्ति यहाँ करना अनावश्यक है। यहाँ केवल उसकी शिक्षण-विधियोंका उल्लेख करना ही पर्य्याप्त होगा। शिक्षा-संसारमें प्रारम्भमें पढ़ना सिखानेकी निम्नलिखित विधियाँ प्रचलित हैं।

१. 'देखो और कहो'-विधि (लुक ऐण्ड से)

२. अक्षर-बोध-विधि (स्पेलिंग)

३. ध्वनिसाम्य-विधि (फोनिक)
४. अनुध्वनि-विधि (इमिटेशन)
५. भाषा-शिक्षण-यन्त्र-विधि (लिंग्वाफ़ोन)
६. समवेत पाठ-विधि (साइमल्टेनिअस)
७. संगति-विधि (एसोसिएशन)

पहली 'देखो और कहो'-विधिमें एक पूरा शब्द श्यामपट्ट पर लिख दिया जाता है। विद्यार्थीको अक्षरकी पहचान कराने के बदले शब्दके स्वरूपकी पहचान कराई जाती है। इस प्रणालीका सबसे बड़ा दोष यह है कि इसके द्वारा निरन्तर प्रयुक्त होने वाले शब्दोंका चित्र तो मस्तिष्कमें ठीक बैठ जाता है किन्तु अव्यहृत शब्दोंके रूप और प्रयोगमें धोखा हो जाता है।

दूसरी अक्षर-बोध-विधि वही है जो प्रायः आजकल पुरानी चालकी चटसालोंमें प्रचलित है अर्थात् एक-एक अक्षर पढ़ कर पूरा शब्द बाँचना। जैसे क, म, ल,—कमल।

तीसरी ध्वनिसाम्य-विधिमें एक समान उच्चरित होनेवाले शब्द एक साथ सिखाए जाते हैं जैसे—क्रम, भ्रम, श्रम, आदि। किन्तु यह विधि अस्वाभाविक और असंगत है। इसमें जानबूझकर बालकको ऐसे शब्द सीखने पड़ते हैं जिनको वह अपने व्यवहारमें नहीं पाता है जैसे—'कर्म, गर्म, घर्म, चर्म, धर्म, नर्म, मर्म, वर्म' आदि ध्वनिसाम्य-विधिके एक पाठमें घर्म, चर्म, मर्म, वर्म आदि ऐसे शब्द हैं जिनका वह या तो तद्भव रूपमें

घाम, चाम आदि व्यवहार करता है या बिलकुल करता ही नहीं। अतः यह विधि भी त्याज्य है।

चौथी अनुध्वनि-विधि प्रायः 'देखो और कहो' का ही प्रकारान्तर है। इसमें अध्यापक एक शब्दको कहता है और विद्यार्थी उस शब्दकी ध्वनिका अनुकरण करता है किन्तु इस विधिका विशेष उपयोग उन भाषाओंकी शिक्षाके लिये है जिनमें एक-एक अक्षरकी कई-कई ध्वनियाँ होती हैं या कभी-कभी शब्द लिखनेमें कुछ अक्षरोंका उच्चारण ही नहीं होता या लिखा कुछ जाता है पढ़ा कुछ जाता है जैसे—अँगरेजीके 'पुट' और 'बट' शब्दोंमें आनेवाला 'यू' अक्षर क्रमशः 'उ' और 'अ' का बोधक होता है, अथवा अँगरेजीके 'काम' (शान्त) शब्दमें आनेवाली 'ल्' ध्वनि अश्रुत रहती है; अथवा फारसीमें लिखा हुआ 'निज़ामुल्दीन' पढ़ा जाता है 'निज़ामुद्दीन'। ऐसी सभी अनियमित और विकृत भाषाओंमें पग-पग पर एक अध्यापकके पथप्रदर्शनकी आवश्यकता पड़ती है किन्तु नागरीमें यह समस्या उठती ही नहीं। इसे हम 'सुनो और कहो'—विधि कह सकते हैं।

पाँचवीं भाषण-शिक्षा-यन्त्र-विधि नई वस्तु है। इसमें ग्रामोफोनके रेकर्डमें एक पाठ भरा रहता है वही पाठ सुनकर बालक उसीका अनुकरण करके पढ़नेका अभ्यास करते हैं। इससे लाभ यह होता है कि उच्चारणमें एकरूपता और पढ़नेके क्रममें समता आ जाती है किन्तु अभी नागरीकी शिक्षाके लिये लिंग्वाफ़ोन रेकर्ड नहीं बने हैं और बननेपर भी सबको प्राप्त होंगे इसमें सन्देह है।

छठी समवेत पाठ-विधि प्रायः छोटे-छोटे पद्यों अथवा छोटे-छोटे गाने सिखानेमें प्रयुक्त होती है किन्तु भावपूर्ण गद्यांशों अथवा नाटकके अंशोंकी शिक्षा देनेमें इसका सफल प्रयोग किया जा सकता है। अध्यापक एक अंशको स्वयं भावपूर्ण रीतिसे पढ़ता है और कक्षाके सब विद्यार्थी एक साथ उसकी आवृत्ति करते हैं। ऐसा करनेसे स्वर सधता है और संस्कार दृढ़ हो जाता है।

सातवीं सगति-विधिका विधान मदाम मौन्तेसौरीने किया है किन्तु वह खिलवाड़ मात्र है। उसको हम वास्तविक शिक्षा-विधि नहीं कह सकते और न वह अधिक हमारे काम ही आ सकती है। विधि यह है कि बहुत-सी वस्तुओं, चित्रों, खिलौनों आदिके आगे उनके नाम कार्डों पर लिखकर रक्खे जाते हैं। फिर वे कार्ड फेंट दिए जाते हैं और बालकोंसे उन्हें उन्हीं वस्तुओंके आगे रखनेको कहा जाता है। धीरे-धीरे बालक उन शब्दोंको पहचान जाते हैं। इस विधिसे केवल कुछ संज्ञाओंका बोध कराया जा सकता है और इससे कुछ संज्ञावाची शब्दोंकी पहचान हो सकती है, किन्तु पढ़नेमें अधिक सहायता नहीं मिल सकती। इस विधिके कई रूप हैं जिनका उल्लेख करना यहाँ आवश्यक नहीं है।

हम पहले ही कह आए हैं कि नागरी अक्षरोंको बाँचनेमें अधिक कठिनाई नहीं पड़ती अतः अब हमें यह विचार करना चाहिए कि कलात्मक ढङ्गसे पढ़नेके लिये कौन-कौनसी बातें आवश्यक हैं। यद्यपि हम गुणी तथा अधम पाठकके गुण-दोषोंका विवेचन पीछे तीसरे अध्यायमें कर चुके हैं किन्तु

यहाँ उसके अतिरिक्त एक बातकी ओर ध्यान आकृष्ट कराना चाहते हैं, वह बात है कलापूर्ण तथा यथावसर अंग-संचालन। यह स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि पढ़ते समय भावानुसार स्वरका उतार-चढ़ाव तो हो किन्तु उसके कारण अंग-संचालन बनावटी, अतिरञ्जित और भौंडा न हो। बात-बातपर आँखें चलाना, नाक सिकोडना या गर्दन हिलाना भौंडेपन और असंस्कृतिका द्योतक है। इसी प्रकार अधिक हाथ फेंकना, उँगली मटकाना तथा स्वतः बतीसी चमकाना अथवा ठठाकर हँसना शीलकी सीमासे परे है। इसके अतिरिक्त दूसरी बात है शब्द-समूहोंका चुनाव अर्थात् एक बार कितने शब्द बोलने चाहिए, कहाँ कितना रुकना चाहिए इत्यादि।

पढ़ना सिखानेकी सफलता अध्यापककी योग्यता पर निर्भर है। प्रारंभिक कक्षामें बहुत सोच विचार कर अध्यापक नियुक्त करना चाहिए। अध्यापकोंकी सुविधाके लिये हम सुन्दर रीतिसे पठनके लिये कुछ नियम दे देते हैं:—

१. हलकी पुस्तक हो तो बाएँ हाथमें उठाओ और इस प्रकार पकड़े रहो कि वह हाथसे १३५° का कोण बनावे और आँखोंसे कमसे कम १२ इञ्च दूरी पर रहे।

२. पढ़ते समय आँखें निरन्तर पुस्तकमें न गड़ी रहें। एक बार आँखें इतनी सामग्री ग्रहण करलें कि बीच-बीचमें

मुँह उठाकर सम्मुख बैठे हुए लोगोंकी ओर देखने और उन्हें सम्बोधित कर पढ़नेका अवकाश मिले।

३. शब्द-समूहोंका उचित चुनाव करके आवश्यक ठहराव देकर पढ़ना चाहिए।

४. पढ़नेकी गति न तो बहुत मन्द हो और न बहुत तीव्र।

५. स्वर भी न तो मन्द हो न बहुत तीव्र। उसमें उतना ही बल हो कि श्रोतागण तक शब्द ठीक-ठीक पहुँच सकें।

७. प्रत्येक शब्दका उच्चारण स्पष्ट और नियमित होना चाहिए।

८. स्वर सदा एकरूप न रहे, भावोंके साथ उतरता-चढ़ता रहे और खुला हुआ दाहिना हाथ भी उन भावोंके प्रकाशनमें उचित योग दे।

९. पढ़ते समय बहुत उछलना-कूदना, इधर-उधर घूमना न चाहिए। हाँ, मुँह उठाते समय गर्दन सब ओरके श्रोताओंकी ओर घूमे, केवल एक ओर ही नहीं।

१०. प्रारम्भ मन्द स्वरसे करना चाहिए और समाप्त भी धीरेसे करना चाहिए जिससे आदि और अन्तका ठीक ज्ञान हो।

उपर्युक्त दस नियम पढ़नेके दस सुनहरे नियम कहे जाते हैं। यह कहना यहाँ असंगत न होगा कि विद्यार्थियोंको बैठकर पढ़नेका अभ्यास नहीं डालना चाहिए क्योंकि बैठकर पढ़नेमें वह स्फूर्त्ति नहीं दिखलाई पड़ती जो खड़े होकर पढ़नेमें मिलती है।

हम यहाँ तीव्र-पाठ अथवा मौन-पाठकी व्याख्या नहीं करना चाहते क्योंकि तीव्र-पाठ तो हमारे पाठ्य-क्रमका एक अंग है और मौन-पाठ पाठ्य-पुस्तक पढ़ानेका एक क्रम मात्र है अतः दोनोंकी व्याख्या उचित स्थलोंपर की जायगी।

१
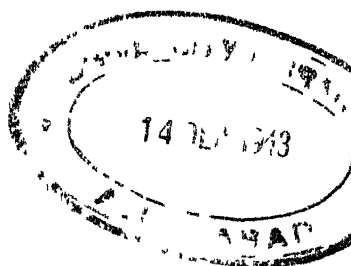
रचना-शिक्षणके उद्देश्य और उसकी समस्याएँ

आलकल हमारे देशके स्कूलोंमें रचना-शिक्षणको अध्यापकगण बेगार समझते हैं और विद्यार्थी एक दैवी आपत्ति। अध्यापकोंको निबन्ध शुद्ध करते-करते नाकों दम आ जाता है और विद्यार्थीको लिखते-लिखते। न उन्हें उसमें रुचि है न उसे उसमें आनन्द। संभवतः इसीलिये किसी दिलजलेने कहा है 'ऐस्सेज़ इन स्कूल्स आर ए नेसेसरी ईविल' अर्थात् स्कूलोंमें लिखाए जानेवाले निबन्ध अपरिहार्य्य बला हैं। किन्तु वास्तविकता यह है कि हमने शिक्षाके इस अंगकी पूरी तरहसे उपेक्षा की है। रचना हमारे संपूर्ण भाषण और लेखनमय जीवनकी नींव है। यदि यह दृढ़ है तो सामाजिक संघर्षसे उत्पन्न होनेवाली सैकड़ों हजारों आपदाएँ भस्मसात् हो

जायँगी, बाधाएँ सम्मुख आनेका दुस्साहस न करेंगी। प्रति दिन हमें लिखनेका काम पड़ता है। अपने प्रियजनोंको हम पत्र लिखते हैं, अपने गुरुजनों अथवा स्वामियोंको आवेदन-पत्र भेजते हैं, देशवासियोंके नाम अपीलें निकालते हैं, समाचारपत्रोंमें सम्वाद भेजते हैं, अपने धर्म, देश तथा समाजके नामपर आँसू बहाते हैं और (स्वान्तः सुखाय) साहित्यकी रचना करते हैं। लेखकोंकी लेखनी नित्य प्रति बरसाती नदीके समान अत्यन्त वेगसे दौड़ी चली जाती है—आँख मूँदकर, अन्धी होकर। उसमें संयम नहीं, नियम नहीं, व्यवहार-कुशलता नहीं, उक्ति-वैचित्र्य नहीं, शब्दोंपर शासन नहीं। उच्छृङ्खल, निरंकुश और उद्दंड प्रकृतिकी प्रेरणासे हमारी लेखनी कागज रँगती चली जा रही है।

उस लेखनीको संयत करनेकी आवश्यकता है, नदीमें बाँध बाँधनेकी अपेक्षा है तभी हमारा साहित्य प्रौढ़ और प्राञ्जल हो सकता है और संसार भरकी अन्य साहित्यिक भाषाओंसे होड़ ले सकता है।

हमारे यहाँ एक सूक्ति प्रसिद्ध है—'शतं वद एकं मा लिख', अर्थात् सौ बातें कह दो किन्तु एक भी लिखो मत। यह इसी लिये कहा गया है कि लिखकर अपना हाथ न कटाओ। मुँहसे निकली बातका प्रमाण ही क्या। किन्तु जब आपकी लेखनीकी जिह्वा कुछ कह बैठेगी तो वह पत्थरकी लकीर बन जायगी, आप वन्दी हो जायँगे। उसका लिखा हुआ एक-एक अक्षर आपके विरुद्ध बोल उठेगा। अतएव लेखनी सोच-समझकर उठाओ। स्मरण रक्खो—

अपनी लेखनी उठाओ मत ।
उठाते हो तो चलाओ मत ।।
चलाते हो तो दो बार सोच लो ।
चल चुकने पर दो बार दुहरा लो ।।

देख लो कि प्रत्येक शब्द इच्छित अर्थके अतिरिक्त कोई दूसरा अर्थ तो नहीं देता । सावधान ।

ऊपर जो कुछ कहा गया है वही रचना-शिक्षणका मूल मंत्र है, उसकी कुंजी है, उसका उद्देश्य है। रचना-शिक्षणके द्वारा हम अपने बालकोंको और उसके द्वारा अपने समाजको यह सिखलाना चाहते हैं कि वे शुद्ध, उचित, लोकसिद्ध निरापद तथा इच्छित प्रभावोत्पादक भाषामें अपनी बात कह सकें, दूसरोंकी बातोंका उत्तर दे सकें, सत्साहित्यकी सृष्टि कर सकें और इस प्रकार अपना सामाजिक जीवन संस्कृत और सुखमय बना सकें।

यहाँ शुद्ध भाषासे तात्पर्य्य व्याकरण-सिद्ध भाषासे है। ऐसी भाषाका प्रयोग न हो जो वैयाकरणकी दृष्टिमें खटकता हो या उसे नाक-भौं सिकोड़नेका अवसर देता हो। उचित भाषासे तात्पर्य यह है कि वह अवसर तथा पात्रके अनुकूल हो । ऐसा न हो कि मंगल अवसर पर अमंगलकी ध्वनि दे। लोकसिद्ध भाषा वह है जो हमारे समाजके उच्च श्रेणीके लोगोंके मुँहमें बारबार आ-जाकर मँज गई है और जिसका प्रयोग शिष्ट समाजमें प्रचलित है और जिसकी उपेक्षा करना समाजमें भौंडापन समझा जाता है । निरापदकी

व्याख्या हम ऊपर संकेतसे कर आए हैं। इसका अर्थ यह है कि हमारी भाषा ऐसी न हो कि दूसरे उँगली उठावें या उसके कारण हम अनायास विपत्तिके चंगुलमें पड़ जायँ। राजनीति और समाजनीतिके व्यापारियोंको इस पर अधिक ध्यान देना चाहिए। इच्छित प्रभावोत्पादक भाषाका अर्थ तो स्वतः सिद्ध है। बात ऐसी कही जाय कि उसका उचित प्रभाव हो, वह केवल आकाशमें विलीन होकर न रह जाय।

अगले अध्यायमें हम इन्हीं उद्देश्योंकी पूर्तिके साधन प्रस्तुत करेंगे और नागरी गद्य-रचनाकी स्कूलोंमें किस प्रकार व्यवस्था करनी चाहिए इसका निरूपण करेंगे। साथ ही रचनामें कुशलता प्राप्त करानेकी विधियाँ और अभ्यास करनेकी विविध क्रियाओंका उल्लेख करेंगे।

हमारी भाषामें अन्य भाषाओंके संसर्गसे भी अनेक अव्यवस्थाएँ आ गई हैं उनपर भी विचार करना यहाँ संगत होगा। उनमेंसे एक विभक्तिकी समस्या है। आजकल हिन्दी लिखनेवालोंमें स्वभावतः दो दल हो गए हैं। दलका तात्पर्य दलबन्दी नहीं है। केवल भ्रम और अज्ञानवश कुछ लोग विभक्ति शब्दसे हटाकर लिखते हैं। एक तीसरा दल है जो सर्वनामके साथ तो विभक्ति जोड़नेको तैयार है किन्तु संज्ञाओंके साथ नहीं। कुछ दिन पहले यह विभक्ति-विक्षोभ इतना प्रबल हो गया था कि स्वर्गीय पं० गोविन्द-नारायण मिश्रको विभक्ति-विचार नामकी एक छोटीसी पोथी लिखनी पड़ी थी। इस स्थलपर हमें भी विभक्ति-विचार कर लेना चाहिए। हिन्दीमें प्रायः लोग विभक्ति हटा कर

लिखते हैं। जैसे "राम का घोड़ा" लिखनेमें 'राम' अलग और 'का' अलग लिखा जाता है। परन्तु भारतकी अन्य भाषाओं और हिन्दीकी अन्य विभाषाओंमें विभक्ति मिलाकर लिखनेका ही प्रचार है। देखिए—

रामस्य घोटकः	संस्कृत
रामजो घोड़ो	सिन्धी
रामदा घोड़ा	पंजाबी
रामेर घोड़ा	बंगाली
रामनो घोड़ो	गुजराती
रामचा घोड़ा	मराठी
रामण्डे कुदिरा .. .	तेलुगु
रामरो घोड़ो	डिंगल
रामको घोरो	पिङ्गल (व्रज)

उपर्य्युक्त तालिकासे विदित होता है कि सभी भारतीय भाषाओं और विभाषाओंमें 'का' विभक्ति मूल शब्दके साथ सटी हुई है। फिर क्या कारण है कि हमारी नागरीमें ही शब्द और विभक्ति, चकवा-चकई न्यायसे कभी मिल जायँ और कभी अलग हो जायँ। जहाँ तक विभक्ति सटानेका प्रश्न है वहाँ तक तो किसी विरोधकी आशंका नहीं। विभक्ति सटाकर लिखनेका समर्थन तो भारतीय भाषाओंकी प्रकृति ही करती है। यहाँ तो हमें विभक्ति हटाकर लिखनेकी अस्वाभाविक प्रथाका मूल खोज निकालना है। फारसीकी प्रकृति है कि वह विभक्तिको शब्दके पहले स्थान देती है। जैसे-'बनारससे' की जगह फारसीवाले 'अज़ बनारस' लिखते हैं,

"कमसे कम" के स्थान पर 'कम अज़ कम' का व्यवहार होता है। फारसी लिपिमें उर्दूका व्यवहार आरंभ होने पर वही फारसी प्रवृत्ति सामने आई और उनके यहाँ भी "रामको" लिखनेके दोनों ढङ्ग चालू रहे, जैसे—(رام کو) राम को, (رامکو) रामको। नागरीमें विभक्ति अलग लिखना इसी प्रवृत्तिकी भद्दी नकल है जिसका त्याग शीघ्रसे शीघ्र होना चाहिए।

इसके पश्चात् नागरीमें कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिनका स्वरूप निश्चित कर लेना बहुत आवश्यक है। ऐसे शब्दोंकी पूरी सूची तो यहाँ नहीं दी जा सकती फिर भी उदाहरणके लिये आइए, जाइए, चाहिए, लिए, दिए आदि शब्द उद्धृत किए जा सकते हैं जिनका दुहरा रूप हिन्दी भाषाके विद्यार्थीके लिए भ्रामक हो सकता है। मोटे तौरसे यदि यह नियम बना लिया जाय कि हम जो सुनेंगे वही लिखेंगे तो बहुत अंशोंमें उक्त त्रुटि दूर हो सकती है। फिर भी 'लिए' जैसे शब्दोंके लिये यह नियम बनाया जा सकता है कि 'वास्ते' के स्थान पर 'लिये' लिखा जाय और जब 'लेना' क्रियाका रूप बनाना हो उसे 'लिए' लिखा जाय। यह नियम इस लिये कि क्रियामें गति होती है अतः बोलनेमें 'ए' स्वर सरल होता है, 'ये' नहीं।

तीसरी बात स्त्रीलिङ्ग और पुल्लिङ्गके साथ बदलनेवाली क्रियाके सम्बन्धमें है। कुछ लोग पुल्लिङ्गमें 'गया' लिखनेके वज़नपर स्त्रीलिङ्ग बनाते समय 'य' पर 'ई' की मात्रा लगा देते हैं। उनका तर्क है कि जब 'य' में 'आ' की मात्रा देकर

'या' बनाते हैं तब 'ई' की मात्रा देकर 'यी' भी क्यों न बनावें। इसका उत्तर यही है कि 'य' पर 'ई' की मात्रा लगानेसे उसकी ध्वनि चबाई हुई प्रतीत होती है जब कि केवल 'ई' का प्रयोग शुद्ध उच्चारणकी ध्वनि देता है। अतः 'आया', 'गया' आदि में 'य' में 'आ' की मात्रा लग सकती है किन्तु 'आई, गई' में 'य' की बिलकुल आवश्यकता नहीं। हमें या तो ध्वनिके सिद्धान्त पर चलना चाहिए या गठनके। किन्तु गठनका सिद्धान्त अर्थात् धातु-रूपका सिद्धान्त तो इस लिये मान्य नहीं हो सकता कि अभी भाषा स्थिर नहीं हुई और गठनका सिद्धान्त मानकर भाषाकी उन्नति रोकना उचित भी नहीं है।

हमारे यहाँ बोलचाल सीधे ढंगसे होती है पर अँगरेजीके उलटे रूप (इण्डिरेक्ट फौर्म) की छुतही बीमारीके कीटाणु भी आजकल नागरीमें दिखाई पड़ने लगे हैं। इसकी शीघ्रसे शीघ्र चिकित्सा होनी चाहिए। अँगरेजीकी देखा-देखी नागरीमें हम कहने लगे हैं—'उसने कहा कि वह वहाँ गया था'। इसके स्थान पर 'उसने कहा कि मैं वहाँ गया था'-लिखनेसे ही नागरीकी प्राण-रक्षा हो सकती है।

चौथी समस्या है विराम-चिन्हों या संकेत-चिन्होंकी। हिन्दीकी पुरानी पोथियोंमें ढूँढ़नेसे निम्नलिखित चिह्न मिलते हैं—

। ॥ —

किन्तु अँगरेजीके शुभागमनसे उसके प्रायः सभी अनार्य्य चिह्न नागरीमें भी प्रयुक्त होने लगे हैं। वे हैं—

. , ; : — ! ? " " ( ) [ ]

हमारी भाषामें प्रायः गुम्फित वाक्य नहीं होते। जो होते भी हैं वे इतने उलझे हुए नहीं होते कि उनमें बहुतसे अनर्गल चिह्नोंकी आवश्यकता पड़े। अब प्रश्नवाचक चिह्नको ले लीजिए। यह चिह्न अँगरेजीमें तो इसलिये आवश्यक है कि वहाँ बहुतसे प्रश्नसूचक वाक्योंमें प्रश्नबोधक शब्द नहीं होते। जैसे—'इज़ देअर ए सीट हीअर ?' किन्तु नागरीमें अनुवाद कर देने पर हम कहेंगे 'क्या यहाँ कोई स्थान है।' इस वाक्यमें 'क्या' शब्द प्रश्नबोधक है ही फिर व्यर्थ चिह्नका क्या प्रयोजन। अतः इन चिह्नोंके विषयमें यह स्मरण रखना चाहिए कि केवल उन्हीं चिह्नोंका व्यवहार कराना चाहिए जो नितान्त आवश्यक हों जैसे—। ॥ , — तथा " "।

पाँचवीं समस्या है लेखनीकी। निर्झरिणी अर्थात् फ़ाउण्टेनपेन और लोहेके कलमोंके आविष्कारने सरकण्डे या नरकटके कलमोंका बहिष्कार ही कर दिया है किन्तु नागरी अक्षरोंकी सुन्दरता और बनावटकी रक्षाके लिये आवश्यक है कि नागरी लिखनेके लिये नरकटका प्रयोग किया जाय। इसकी उपादेयता हम पीछे कह आए हैं।

छठी समस्या है अनुनासिकके चिह्नकी। आजकल लोग अनुनासिकके लिये भी अनुस्वारका प्रयोग करते हैं। वे 'हंस' और 'हँस' में कोई भेद ही नहीं रखते। वे गेंदको गेंद लिखते और छापते हैं जो वास्तवमें 'गेन्द' पढ़ा जाना चाहिए। अतः चंद्रबिन्दु (ँ) का प्रयोग भाषाकी शुद्धताके लिये आवश्यक तथा अनिवार्य्य है।

इन समस्याओंका समाधान करने पर हम आगे रचनाके विविध रूपों और उसकी शिक्षण-व्यवस्था पर विचार करेंगे।

१०

रचनाके विभिन्न स्वरूप और उनकी शिक्षण-विधियाँ

रचना करनेकी इच्छा मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। वह कुछ कहना चाहता है यह सत्य है किन्तु वह लिखना भी चाहता हो या लिखकर ही अपनी बात कहना चाहता हो यह बात नहीं है। कभी तो अपनी आवश्यकतावश, कभी परिस्थितिवश और कभी स्वतन्त्र भावाभिव्यक्तिकी प्रेरणासे मनुष्य लेखनी उठाता है या जीभ हिलाता है।

हम आवश्यकतावश ही बातचीत करते हैं, कथा-वार्त्ता कहते हैं, पत्रादि लिखते हैं। विशेष परिस्थितिमें पड़कर हम

अपील निकालते हैं, आवेदन-पत्र भेजते हैं, अभिनन्दनपत्र या सम्मानपत्र तैयार करते हैं। और फिर स्वतन्त्र भावाभिव्यक्तिकी इच्छा—दूसरे लोग मुझे जानें, मेरे विचारोंको पढ़ें या समझें—यह भावना साहित्यिक कृतियोंको जन्म देती है। वे हैं—कथा, वर्णन, जीवन-चरित, आत्मकथा, निबंध, नाटक, कविता, आलोचना आदि।

किसी वस्तुको बनानेकी क्रिया ही रचना कहलाती है। इसी प्रकार शब्दोंकी सार्थक तथा कलात्मक सजावटको भाषा-रचना कहते हैं। रचना दो प्रकारकी होती है—मौखिक और लिखित।

हमारे यहाँ अक्षरके रूप और उसके उच्चारणका परिचय हो जानेके बादही शब्द-ज्ञान और फिर सीधे वाक्य-रचनाका आरम्भ हो जाता है।

रचना सिखानेकी आठ विधियाँ हैं। जिन्हें 'देखो और रचो'-विधि, प्रश्नोत्तर-विधि, भाषाशिक्षण-यन्त्र-विधि, उद्बोधन-विधि, प्रबोधन-विधि, मन्त्रणा-विधि, सूत्र-विधि, तर्क-विधि और अनुकरण-विधि कहते हैं।

१. 'देखो और रचो'—इस प्रणालीका आधार एक लकड़ीकी पिटारी है जो महामना पण्डित मदनमोहन मालवीयजीके नामपर 'मोहन पेटी' कहलाती है। यह नया अविष्कार है। इस पेटीमें एक स्लेट लगी हुई है, उसपर एक पुस्तक लगी हुई है, उसके आगे खाँचीदार पटरियाँ लगीं हैं और उसके नीचे तीन घरोंमें १२६ छोटे-छोटे घर हैं जिनमें कार्डोंपर

देवनागरीके अक्षर, अंक, मात्राएँ तथा कुछ अति प्रचलित शब्द भरे रहते हैं। इसकी शिक्षाकी चार अवस्थाएँ हैं। पहली अवस्थामें विद्यार्थी पुस्तकको देखकर छोटे घरोंमेंसे अक्षर निकालकर खाँचीदार पटरियोंमें लगाता है और पूरा पृष्ठ रच देनेपर फिर निकाल कर उन्हीं घरोंमें डाल देता है। इस प्रयोगसे बालककी उँगलियाँ सधती हैं, अक्षरोंकी पहचान होती है और बारबार देखते रहनेसे अक्षरोंका शुद्ध रूप सामने आता है। दूसरी अवस्थामें विद्यार्थी अपने रचे हुए पृष्ठकी प्रतिलिपि स्लेट पर करता है। इससे उसको लिखनेका अभ्यास भी होता चलता है और अक्षरोंके डौल तथा उनके विभिन्न अंगोंका अनुपात उसे आ जाता है। तीसरी अवस्थामें अध्यापक श्यामपट्ट पर जाने हुए शब्दोंके संयोगसे वाक्य बनाकर लिखता है जिसे बालक खाँचीदार पटरियोंमें कार्डोंसे रचता है। इस अभ्याससे विद्यार्थीका लिखे हुए अक्षरोंसे भी परिचय हो जाता है और वह तीव्रता-के साथ उसकी रचना करता है। चौथी अवस्थामें वह अध्यापककी बोली सुनकर कार्डोंसे शब्द रचता है तथा स्लेट पर लिखता है। इस प्रणालीमें शिशु-शिक्षाके सम्पूर्ण मनोवैज्ञा-निक सिद्धान्तोंका समावेश किया गया है। इसमें बालकोंकी रुचि भी होती है और उनका ज्ञान भी बढ़ता चलता है।

२. भाषा-शिक्षण-यन्त्र—यह विधि अभी तक अँगरेजी पढ़ानेके काममें ही लाई जाती है। इसे लिंग्वाफ़ोन कहते हैं। इसके चार भाग हैं—ग्रामोफोनकी मशीन, लिंग्वाफ़ोन रेकर्ड, वर्ण्य चित्र तथा सहायक पुस्तक। वर्ण्य चित्रको टाँगकर

ग्रामोफ़ोन रेकर्ड चला दिया जाता है और उसके बोलने पर विद्यार्थी पुस्तकमें वह देखते चलते हैं और बोलते चलते हैं। यह विधि रचनाके मौखिक स्वरूपकी सिद्धिके लिये बड़ी सहायक है।

३ प्रश्नोत्तर-विधि—यह विधि अत्यन्त प्राचीन है। भारत और यूनान दोनोंमें इसी विधिके द्वारा शिक्षा दी जाती थी। किन्तु भेद इतना ही है कि तब शिष्य प्रश्न करता था, गुरु उत्तर देता था, अब गुरु प्रश्न करता है, शिष्य उत्तर देता है। इस प्रणालीमें ध्यान देनेके योग्य बात यही है कि जिस विषयपर प्रश्न किए जायँ उसका शृंखलाबद्ध वर्णन उत्तरके रूपमें आ जाय। आगे उदाहरण देकर इसकी व्याख्या करेंगे। यह विधि प्रारम्भिक कक्षाओंमें अर्थात् मौखिक रचना-के समय तक ही प्रयोगमें लानी चाहिए। इस विधिमें ये बातें समझ रखनी चाहिएँ—प्रश्न स्पष्ट हों। संक्षिप्त हों। प्रश्न एक ही बातके लिये किया जाय, अर्थात् एक प्रश्नके उत्तरमें बहुत सी बातें न आ जायँ। प्रश्न संगत हों अर्थात् एक प्रश्न-का दूसरेसे संबन्ध हो। प्रश्न बालकोंकी अवस्था और योग्यताके अनुकूल हों। 'हाँ' या 'ना' में उत्तर लानेवाले प्रश्न न हों।

४. उद्बोधन-विधि—इसमें स्वतः विद्यार्थियोंसे ही निर्दिष्ट विषयके सम्बन्धमें ज्ञातव्य बातें निकलवाई जाती हैं। उनकी कल्पना-शक्तिको उद्दीप्त करके उन्हें स्वतः वर्ण्य विषयके विभिन्न अंगोंकी खोज करने और ढूँढ निकालनेको उत्सा-

हित किया जाता है। यह विधि अधिकतर जीवन-चरित, आत्मकथा अथवा अन्य ज्ञात विषयों या दृश्यादि वर्णनकी शिक्षामें किया जाता है।

५. प्रबोधन-विधि—इस विधिमें संपूर्ण सामग्री अध्यापक देता है। बालक केवल अपने अध्यापक द्वारा प्रदत्त ज्ञानको भाषा-निबद्ध करते हैं। यह विधि केवल वैज्ञानिक विषयों अथवा उन विषयोंकी रचना-शिक्षाके काममें लानी चाहिए जो विद्यार्थी न जानते हों।

६. मन्त्रणा-विधि—इस विधिमें अध्यापक रचनाके लिये एक विषय देकर, तत्सम्बन्धी पुस्तकों, लेखों, पत्रों आदिके नाम बतला देता है और विद्यार्थी अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार उस सामग्रीमेंसे अपने प्रयोगकी वस्तु निकाल लेते हैं। यह एक प्रकारसे पथ-प्रदर्शन-प्रणाली है। इसमें विद्यार्थीको स्वावलम्बनका अवसर तो मिलता ही है साथ ही उसे यह भी ज्ञान हो जाता है कि एक ही विषयको दो विद्वान् लेखक किन दृष्टियोंसे देखते हैं और किस प्रकार उसपर प्रकाश डालते हैं। विद्यार्थियोंको उनकी लेखन-शैलीका भी ज्ञान होता है और नए तथा समुचित शब्दोंका प्रयोग भी आ जाता है।

७. सूत्र-विधि—इस विधिमें अध्यापक श्यामपट्ट पर वर्ण्य विषयके सूत्र लिखते हैं जिन्हें विद्यार्थी मिलाकर पूरा लेख तैयार कर देता है। इन सूत्रोंमें संगति और सक्रमता होनी चाहिए। यह प्रणाली प्रारम्भसे लेकर अन्ततक काम आ सकती है और केवल उन्हीं जीवन-चरितों तथा कथा-

ओंके लिये प्रयुक्त होनी चाहिए जो विद्यार्थी न जानते हों।

८. तर्क-विधि—यह विधि उन विषयोंके लिये प्रयुक्त होती है जिनके पक्ष या विपक्षमें बहुत कुछ कहा जा सके और जिनके विषयमें हमारे समाजके नेताओंमें मतभेद हो। हमारी सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक समस्याओंपर इसी विधिसे रचना कराई जा सकती है। इसका विधान यह है कि कक्षामें दो दल बनाकर वर्ण्य विषय वाद-विवादके लिये दे दिया जाय। जब विद्यार्थी कक्षामें उसपर वाद-विवाद तथा विचार कर लें तब वह लिखनेके लिये दिया जाय।

९. विचार-विधि—इस विधिमें विद्यार्थिगण परस्पर विचार करके अथवा अपने गुरुजनोंके साथ विचार करके अथवा पुस्तकोंका आश्रय लेकर निबन्ध लिखते हैं। यह विधि उन उच्च कक्षाओंके लिये है जहाँ अध्यापकका बहुत कम सहारा लिया जाता है।

रचना-शिक्षण-प्रणालीकी चर्चा हम यहीं समाप्त कर फिर रचनाकी व्यवस्था पर चलते हैं। ऊपर कहा गया है कि वाक्य-रचनाका अभ्यास संवादात्मक या प्रश्नोत्तर प्रणालीसे कराया जाता है। उदाहरणके लिये अभ्यासार्थीसे प्रश्न किया गया—तुम्हारा क्या नाम है। वह उत्तर देगा—मेरा नाम राम है। पुनः प्रश्न हुआ—तुम क्या करते हो! उत्तर मिला—मैं नौकरी करता हूँ। इस प्रकार विद्यार्थीको स्वयं धीरे-धीरे वाक्य-रचनाका अभ्यास होने लगता है। उक्त अभ्यास हो जाने पर उसका विकास चित्र-वर्णन द्वारा कराया जाता है। एक चित्र लीजिए—
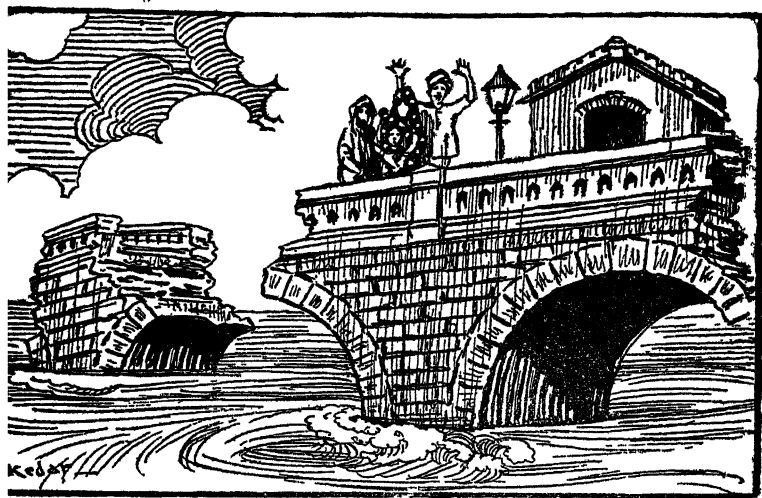
ऊपर दिए हुए चित्र पर प्रश्नोत्तर इस प्रकार होगा—

प्रश्न—तुम चित्रमें क्या देखते हो।

उत्तर—एक नदी बह रही है।

प्रश्न—वह नदी कैसी है।

उत्तर—बढ़ी हुई है।

प्रश्न—नदी पर क्या देखते हो।

उत्तर—एक टूटा हुआ पुल।

प्रश्न—पुल कैसे टूटा होगा।

उत्तर—नदीकी बाढ़से बह गया होगा।

प्रश्न—टूटे हुए भाग पर क्या देखते हो।

उत्तर—एक झोंपड़ी।

प्रश्न—यह झोंपड़ी किसकी है।

उत्तर—पुलके रखवालेकी।

प्रश्न—झोंपड़ीके पास क्या देखते हो।

उत्तर—कुछ लोग खड़े हैं।

प्रश्न—कौन लोग हैं।

उत्तर—पुलका रखवाला, उसकी स्त्री और बच्चा।

प्रश्न—वे क्या कर रहे हैं।

उत्तर—वे हाथ उठाए हुए हैं।

प्रश्न—किस लिये।

उत्तर—वे सहायता चाहते हैं।

प्रश्न—वे क्यों सहायता चाहते हैं।

उत्तर—क्योंकि उस भागके भी नदीमें बह जानेका डर है।

प्रारम्भमें तो विद्यार्थी प्रश्नोंका पूर्ण उत्तर प्रायः न दे पायँगे। वे भाव मात्र कहेंगे। यदि उनसे पूछा जाय कि तुम्हारा नाम क्या है तो वे तीरकी तरह छूटतेही उत्तर देंगे—धनुर्धर। वे शायद 'मेरा नाम धनुर्धर है' न कह पायँगे। पर इससे अध्यापकको घबराना न चाहिए। धीरे-धीरे ये भावोत्तर पूर्ण उत्तर बन जायँगे।

चित्र-वर्णनमें ही कल्पनाका मिश्रण होना भी आरम्भ हो जाता है। पहले विद्यार्थी वस्तुस्थितिका ही वर्णन करता है और फिर उसीके साथ-साथ अपनी कल्पना-शक्तिका उपयोग भी। इसी प्रश्नोत्तर-प्रणालीके साथ-साथ उद्बोधन-प्रणाली भी चलती है।

इसी दूसरी अवस्थामें ही चित्र-वर्णनके बाद कथा-कहानीका आगमन होता है। अध्यापक विद्यार्थियोंको

कोई कहानी सुनाकर फिर वही कहानी उनके मुखसे कहलाता है। कभी-कभी अध्यापक विद्यार्थियोंसे कुछ दिन पहले अपनी सुनाई हुई कोई पुरानी कहानी दुहरवाता है। इसका भी अभ्यास हो जाने पर वर्णन करनेकी शिक्षा दी जाती है।

बालकोंको वर्णन करनेकी स्वतः रुचि होती है। वे मेले-तमाशे आदिमें जो कुछ देखते-सुनते हैं उसकी सूचना शीघ्र से शीघ्र दूसरोंको देनेके लिये उतावले रहते हैं। प्रायः देखा जाता है कि बच्चे कोई वस्तु देख आनेके बाद द्वारसे ही उसका वर्णनात्मक विवरण देने लगते हैं। इसलिये उन्हें वर्णन-द्वारा रचनाका अभ्यास करानेमें सुविधा होती है। पास-पड़ोस हाट-बाजार, गाँव और नगरके समीपकी दृश्यावली आदिका वर्णन उनसे बड़ी आसानीसे कराया जा सकता है। इस प्रकार उनकी रचना-शक्ति उत्साहित होकर अग्रसर होती है।

इसके पश्चात् अवसर विशेष पर किससे किस प्रकार बातचीत करनी चाहिए इसकी शिक्षा विद्यार्थीको अवश्य देनी चाहिए। किसीके यहाँ ब्याह-बरात, काम-काज पर जाकर किस प्रकार प्रसन्नता या संवेदना प्रकट करनी चाहिए, अभ्या-गतसे किस प्रकार बातचीत कर उसे मधुर वचनोंसे परितृप्त करना चाहिए, अपने बड़ों और छोटोंसे किस तरह बातचीत करनी चाहिए, आदि बातोंकी शिक्षा मनुष्यकी जीवनयात्रामें प्रायः काम आनेवाली है। इसका विस्तृत विवेचन हम बोलचालकी शिक्षामें कर चुके हैं।

इस मौखिक रचनाके साथ ही साथ लिखित रचनाकी व्यवस्था भी आरंभ हो जाती है। मौखिक रचनामें चित्र-वर्णनकी शिक्षाका आरम्भ होते ही वही वर्णन विद्यार्थी द्वारा लिखाया जा सकता है। अध्यापकको चाहिए कि चित्रकी मुख्य बातें श्यामपट्टपर लिख दें और फिर उसीके आधारपर विद्यार्थियोंको लिखित वर्णन करनेकी प्रेरणा करें। इसके बाद उनसे कथा-कहानीकी लिखित पुनरावृत्ति करावें। अध्यापक विद्यार्थियोंको कहानी लिखनेके लिये कहें। इसीके साथ-साथ हाट-बाजार या किसी दृश्यावलीका वर्णन भी लिखाया जा सकता है।

तीसरी अवस्थामें विद्यार्थी इस योग्य हो जाता है कि उसे अनुच्छेद-रचना सिखाई जा सके। लिखित विषयको किन किन स्थानोंसे विलग करके एक-एक बातको उचित स्थान या विश्राम देते हुए किसी नवीन विषयकी चर्चा नवीन पंक्ति-से करनेकी क्रियाको अनुच्छेद-रचना कहते हैं। इसी समय विद्यार्थीसे दिनचर्य्या भी लिखाई जा सकती है। दिनचर्य्या लिखनेकी विधि विद्यार्थीको एक बार बतला देनी चाहिए। इन सब बातोंका अभ्यास हो जानेपर पाठ्य-पुस्तकमें आई हुई कथा-कहानियोंको विद्यार्थियोंसे उनकी भाषामें लिख-वाना चाहिए। इस स्थलपर उन्हें मुहावरोंके समुचित प्रयोगसे अवश्य परिचित करा देना चाहिए। तत्पश्चात् उन्हें काल्पनिक सरल वर्णन करनेके लिये कहना चाहिए। साथ ही अपनी रचनापर समुचित शीर्षक लगानेकी कलाका भी अभ्यास कराना चाहिए।

चौथी अवस्थामें विद्यार्थीको व्यापार-विषयक तथा सम्बन्धियोंसे पत्र-व्यवहार करनेका ढंग बतला देना चाहिए। इसीके साथ-साथ उसे निमन्त्रणपत्र, आवेदनपत्र, सूचना, अभिनन्दन और अपील आदि लिखनेकी भी शिक्षा देनी चाहिए और इसके बाद उसे समाचार, विज्ञापन तथा आत्म-चरित लिखनेकी कला बतलानी चाहिए।

अब विद्यार्थीमें इतनी समझ आ जाती है कि उससे निबन्ध-रचनाका अभ्यास कराया जा सके। अतः इस अवस्थामें उसे कथात्मक, वर्णनात्मक और विचारात्मक निबन्धोंका परिचय देकर निबन्ध लिखाना आरम्भ कर देना चाहिए। इसी समय उससे जीवनी और रामकहानी भी लिखवानी चाहिए। कहानियोंमें भी उसे एकदम मौलिक रचना करनेके लिये बाध्य न करना चाहिए। पहले दूसरोंकी लिखी हुई कहानियोंके आधारपर कहानी लिखनेका अभ्यास कराना चाहिए और तत्पश्चात् स्वतंत्र कहानी लेखनके लिये उत्साहित करना चाहिए। विद्यार्थीमें जब उक्त योग्यता आ जाय तब उसे संवाद, सरल एकांकी नाटक तथा वार्त्तालाप आदि लिखनेकी ओर प्रवृत्त करना उचित है। इस अवस्थाकी अन्तिम सीढ़ी अनुवाद है। विद्यार्थी जिन दो भाषाओंसे परिचय रखता हो उनका परस्पर अनुवाद करनेका काम विद्यार्थीसे लेना चाहिए।

उक्त पद्धतिसे शिक्षित विद्यार्थी पाँचवीं अवस्थामें गद्य और पद्यकी रचनामें समर्थ हो जाता है अतः उसे निबन्ध, आलोचना, नाटक, गद्य-काव्य, कविता और तुकबन्दी

आदिके तत्त्वों तथा सिद्धान्तोंका सम्यक् परिचय देकर उससे इन रचनाओंका अभ्यास कराया जा सकता है।

छठी अवस्था विद्यार्थीको लिखित रचनाकी पूर्णता प्राप्त करा देती है। इस अवस्थामें विद्यार्थी संक्षेपीकरण, साहित्य-समीक्षा, सम्पादकीय लेख और पत्र-सम्पादनकी शिक्षा भी प्राप्त कर सकता है। इतना हो जानेके बाद उसकी रचना-विषयक शिक्षा पूर्ण हो जाती है।

हमें यह न समझना चाहिए कि केवल वर्णनात्मक, कथा-त्मक तथा विचारात्मक निबंध लिखवानेसे ही हमारा कर्त्तव्य समाप्त हो जाता है। स्कूलसे निकलनेके बाद नागरीके छात्रको इस योग्य हो जाना चाहिए कि वह साहित्यिक रचनाओंके सभी रूपोंसे परिचित हो और उसमें प्रवेश पा सके।

यहाँ तक तो हमने रचनाके विविध रूपों और रचना-शिक्षण-विधियोंकी व्याख्या मात्र की है। आगे हम रचनाके अभ्यासके लिये कुछ विधानोंका उल्लेख करेंगे।

ऊपर हमने जिस व्यवस्थाकी चर्चा की है उसे हम अध्यापकोंकी सुविधाके लिये विस्तारसे आगे देते हैं।

अवस्था	विषय तथा विस्तार
पहली (५ से ७ वर्ष) मौखिक	१. वाक्य-रचना २ घरेलू मुहावरोंका प्रयोग ३. बातचीत के द्वारा विशेष अवसरोंके योग्य भाषाका प्रयोग अर्थात् सामाजिक शीलकी भाषा
दूसरी (८ से १० वर्ष) मौखिक तथा लिखित	१ चित्र-वर्णन २. कथा-कहानी ३. सरल-वर्णन (घर, पास-पड़ोस, पाठशाला, हाट-बाजार, आस-पासके दृश्य, नदी-नाले, पहाड़ियाँ, मेले-तमाशे, संगी-साथी, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, खेती-बारी, फूल-पत्ते, गाड़ी-घोड़े, घरेलू काम-धन्धे, खेल-कूद, तैरना, पेड़पर चढ़ना आदि)
तीसरी (११ से १२ वर्ष) लिखित	१. अनुच्छेद-रचना २. दिनचर्य्या ३. कथा-कहानी, (पाठ्य पुस्तकोंमें पढ़ी हुई कथाओंकी आवृत्ति) ४. सरल यात्रा-वर्णन (अनुभूत तथा काल्पनिक) (पैदल, बैलगाड़ीपर, हाथीपर, ऊँट-गाड़ी या ऊँटपर, घोड़ेगाड़ी, इक्के या घोड़ेपर, भैंसागाड़ी या भैंसेपर, गधेपर, साइकिलपर, पालकीपर, रिक्शा-पर, नावपर)

अवस्था	विषय तथा विस्तार
चौथी (१३ से १४ वर्ष) लिखित	१. यात्रा-वर्णन (अनुभूत तथा काल्पनिक) (मोटर-गाड़ीपर, रेल-गाड़ीपर, वायुयानपर, जल-पोतपर, बारहसिंगे तथा कुत्तेकी फिसलन गाड़ी (स्लेज) पर) २. पत्र (घरेलू तथा कामकाजी, निमंत्रण, आवेदन, सूचना, अभिनन्दन, अपील, समाचार, विज्ञापन) ३. जीवन-चरित ४. रामकहानी ५. छोटे निबन्ध (कथात्मक, वर्णनात्मक, विचारात्मक) ६. कहानियाँ (मौलिक, अनूदित, आधारयुक्त) ७. संवाद (वार्त्तालाप, हास्य-विनोद, चुटकुले) ८. अनुवाद (दूसरी भाषाओंका नागरीमें)
पाँचवीं (१५ से १६ वर्ष) लिखित	१. सरल निबन्ध (सब प्रकारके) २. सरल आलोचना ३. एकांकी नाटक ४. छोटी कहानियाँ ५. तुकबन्दी तथा कविता

अवस्था	विषय तथा विस्तार
छठी (१७ से १८ वर्ष) लिखित	१. साहित्यिक निबन्ध २. समालोचना (धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा साहित्यिक) ३. साहित्यिक समीक्षा ४. नाटक (धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक तथा समस्यात्मक) ५. उपन्यास ६. गद्यकाव्य ७. कविता ८. अन्तर्दर्शन, भूमिका तथा प्रस्तावना ९. पुस्तकोंकी समीक्षा १०. संक्षेपीकरण ११. सम्पादन (सम्पादकीय लेख, लेखों तथा समाचारोंका सम्पादन, विज्ञापनकी व्यवस्था आदि) १२ टीका

११

शैली तथा रचनामें कुशलता प्राप्त करनेके उपाय

अभी तक हमने रचनाके विविध रूपों तथा उनके सिखानेकी विधियोंका ब्यौरेवार वर्णन किया है। हमने अभी तक रचनाके एक अंग अर्थात् विषय-सामग्रीकी व्यवस्थापर ही अपने विचार परिमित कर रक्खे थे किन्तु सुन्दरसे सुन्दर सामग्री भी तबतक व्यर्थ है जबतक उसे उचित तथा सुन्दर भाषाका आवरण न पहिनाया गया हो। भाषाका प्रयोग अभ्याससे आता है। यह अभ्यास या तो बहुत पढ़नेसे आता है या बहुत लिखनेसे। एक विद्वान्ने सच कहा है कि 'अधिक पढ़नेवाला अच्छा वक्ता होता है और अधिक लिखनेवाला ही अच्छा लेखक हो सकता है।'

यहाँ पर भाषा-शैलीका विवेचन करना भी असंगत न होगा क्योंकि लेखन और शैलीका चोली-दामनका साथ है। बिना शैलीकी शिक्षा दिए रचना-शिक्षा व्यर्थ है।

भाषाकी दृष्टिसे अभिव्यक्तिकी दो रीतियाँ बतलाई जाती हैं जिन्हें शैली और शक्ति कहते हैं। परन्तु शक्ति शैली विशेष-का ही एक गुण है। शैलीके अन्तर्गत दो बातें होती हैं—एक तो विषय और दूसरे भाषा। विषय और भाषाके भी दो-दो विभाग हैं। विषयमें पहली बात है दृश्यका वर्णनात्मक चित्र और दूसरी बात है चरित्रकी बाह्य रूपरेखा। भाषा-सम्बन्धी भेदमें शब्द और अर्थ नामक विभाग किए जाते हैं। लिखने और बोलनेमें शब्द-भेदके कारण अर्थ-भेद होता है पर कभी-कभी केवल बोलनेमें उच्चारण-भेदसे भी अर्थ-भेद हो जानेकी सम्भावना रहती है। शब्द-भेदसे होनेवाला अर्थ-भेद तीन प्रकारका होता है जिसे वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ कहते हैं। तीनोंका एक-एक उदाहरण लीजिए:—

(१) विदेशियोंने खैबर घाटीसे आर्य्यावर्तपर आक्रमण किया तथा तक्षशिला विश्वविद्यालयको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

(२) खैबरके दर्रेसे घुसनेवाली आँधियोंने आर्य्यावर्तका ज्ञानदीपक बुझा डाला।

(३) भारतवर्षके सुनहले खेतोंने विदेशी साहसिकोंको निमन्त्रण दिया जिन्होंने हमारे ज्ञानसागरको सुखा देनेमें कोई संकोच नहीं किया।

उक्त उदाहरणोंमें एक ही शब्दार्थ केवल शब्दभेदके कारण वाच्यार्थ, व्यंग्यार्थ और लक्ष्यार्थका उदाहरण बन गया है। यह तो विषय उपस्थित करनेकी शैली-विषयक बात हुई। इसीके साथ-साथ भाषा-विषयक शैलीपर भी विचार कर लेना चाहिए। दुर्भाग्यवश हिन्दीकी अनेक विभाषाएँ तथा

उपभाषाएँ हैं जो हमारी भाषाको व्यवस्थित रूप धारण करने देनेमें भारी बाधा डाल देती हैं। फिर भी भाषा-विषयक तीन शैलियाँ हिन्दीमें प्रचलित हैं। उर्दूके चोर दर्वाजेसे हिन्दीके गढ़में प्रवेश करनेवाले लेखक प्रायः रूढ़ोक्तियों या मुहावरोंसे अधिक काम लेते हैं। दूसरी ओर सनातनी हिन्दीके लेखक संस्कृत न जानने पर भी तत्सम शब्दोंका ही प्रयोग करते हैं और मुहावरोंको अछूत समझकर उन्हें अपनेसे दूर ही रखते हैं। तीसरे वर्गके लोग मध्यम मार्गवर्त्ती हैं। उनके समीप भाषा उस नटीके समान है जो विषयके अनुसार अपनी वेशभूषामें बराबर परिवर्त्तन करती रहती है। परन्तु भाषाको इच्छानुकूल नचानेके लिये उसके विविध रूपोंका परिचय रखनेके साथ-साथ उसपर पाण्डित्यपूर्ण अधिकारकी भी आवश्यकता रहती है। अतः सभी पहलुओंपर विचार करनेके बाद यही कहा जा सकता है कि अच्छी शैली वही है जो मुहावरेदार हो और जो अपनी, अपने देशकी जान पड़े, जिसमें देशी शब्दोंकी संख्या अन्य शब्दोंसे अपेक्षाकृत अधिक हो, जिसके द्वारा उचित प्रभाव डाला जा सके और जिसमें उचित तथा शिष्ट शब्दोंका प्रयोग हो। प्रभावोत्पादक होना भी शैलीका एक प्रमुख गुण है। इस गुणकी प्राप्तिके चार उपाय हैं जिन्हें हम भावुकता, तार्किकता, पुनरावृत्ति और प्रमाण-बहुलता कह सकते हैं। इसमें भावुकतावाली शैली वहाँ काममें लानी चाहिए जहाँ जनसमूहको सम्बोधित करके उनके हृदयको, मनको वशमें करना हो। इसका प्रभाव सदा क्षणिक होता है। विद्वानोंमें आदर पानेके

लिये तार्किकतावाली शैली भारी सहारा देती है। किसी बातको बार-बार दुहराते हुए समझाते चलनेकी शैलीका प्रयोग विद्यार्थियोंके उपयोगमें आनेवाली पुस्तकोंके लिये आवश्यक ही नहीं अनिवार्य्य भी है। प्रमाण-बहुल शैलीका प्रभाव मध्यम श्रेणीके लोगोंपर बहुत पड़ता है। अतः आवश्यकतानुसार इनका प्रयोग करना चाहिए।

किन्तु लेखक होनेकी आवश्यक कसौटी यह है कि उसके मस्तिष्कमें शब्दोंका भरपूर भाण्डार हो, उन शब्दोंको उचित रूपसे चयन करनेकी तथा उचित प्रयोग करनेकी बुद्धि हो और कौनसी बात किस प्रकारसे कही जाय इसका ज्ञान हो। हम लोग साधारणतः अपने विद्यार्थियोंको एक विषयपर लिखनेका आदेश दे डालते हैं। हम इस बातकी तनिक भी चिन्ता नहीं करते कि विद्यार्थीके पास शब्द-भाण्डार भी है या नहीं। अतः विद्यार्थीको लिखनेका आदेश देनेसे पूर्व उसके हाथमें कुछ सामग्री दे देनी चाहिए और उसको कुशल बनानेके लिये कुछ अभ्यास करा देने चाहिएँ। हम नीचे अध्यापक द्वारा दी जानेवाली सामग्री तथा अभ्यास-योग्य कुछ सामग्रीका उल्लेख करते हैं। इस सामग्री और इन अभ्यासों-का विधान प्रत्येक श्रेणीके अनुकूल होना चाहिए।

(क) अध्यापक द्वारा विद्यार्थियोंको दी जानेवाली सामग्री—

१. उस श्रेणीके प्रयोगके योग्य शब्द-समूह।
२. सूक्ति-भाण्डार।
३. उस श्रेणीके प्रयोगके योग्य पुस्तकोंकी सूची।

(ख) कल्पना-शक्ति तथा शब्द-प्रयोगका अभ्यास बढ़ानेके योग्य सामग्रीका निर्देश ।

१. संज्ञाओंके अनुकूल उचित विशेषणोंके चुनावका अभ्यास ।

२. वाक्योंमें उपयुक्त क्रियाओंके चुनावका अभ्यास ।

३. अक्रम वाक्योंको सक्रम रखना ।

४. दिए हुए सूत्रोंके आधारपर पूरी कथा या जीवन-चरितकी रचना करना ।

५. तुम्हारे एक सनकी चाचा तुम्हें पाँच सौ रुपए इस शर्त्त पर देते हैं कि तुम इन रुपयोंको चौबीस घंटोंमें व्यय कर दो किन्तु न तो किसीको दानमें दो न कुछ खरीदो और न कहीं जमा करो। तुम जिस प्रकार यह द्रव्य व्यय करोगे उसका पूर्ण विवरण लिखो। [इस प्रकारके अभ्याससे कल्पना-शक्तिका विकास होता है।]

६. निम्नलिखित घटनाको बढ़ाकर लिखो ।

'संध्याका समय था । सूर्य अस्त हो रहे थे। उधर सूर्य डूबे इधर नदीमें पचासों नर-नारियोंसे भरी नाव डूब गई।'

७. जिस समय रावण सीताजीको हरकर ले जा रहा था उस समय तुम वहाँ होते तो क्या करते।

८. यदि आज रावण लंकाका राजा होता और तुम्हारा स्कूल देखने आता तो वह कैसा होता और किस प्रकार व्यवहार करता। समझ लो कि वह नागरीसे परिचित है।

९. एक मित्रने तुम्हें निमन्त्रण दिया है, तुम उनके यहाँ भोजन नहीं करना चाहते क्योंकि वे मांसाहारी हैं। एक ऐसा अस्वीकृति-पत्र लिखो कि वे बुरा न मानें। स्मरण

रक्खो कि बीमारी या बाहर जानेका बहाना न हो।

१०. ब्रजभाषामें लिखे हुए गद्यका नागरीमें रूपान्तरित करना।

११. एक बालक इक्केके नीचे आ रहा था। तुमने उसे बचा दिया और तुम्हें कुछ चोट आ गई है। उस बालकके पिताने तुम्हारे लिये दस रुपयेका नोट और एक कृतज्ञताका पत्र भेजा है। तुम नोटको अस्वीकार करते हुए उस पत्रका उत्तर दो।

१२. नाटकमें तुम्हारे एक मित्रने सुन्दर अभिनय किया है। तुम्हें उसके अभिनयमें क्या बात अच्छी लगी उसका वर्णन करो।

१३. एक मद्रासी सज्जन तुम्हारे नगरके विषयमें जानना चाहते हैं। ऐसी भाषामें उन्हें समझाइए कि वे भली-भाँति समझ सकें। वे थोड़ीसी नागरी जानते हैं।

१४. बिना नाम बताए एक परिचित नगरका ऐसा वर्णन कीजिए कि लोग उसका नाम समझ जायँ।

१५. एक ऐसे दृश्यका वर्णन करो जिसमें एक साथ पूर्ण चन्द्र, बदली, आँधी तथा वर्षाका वर्णन हो। अस्वाभाविक न होने पावे।

ऊपर हमने कुछ ऐसे अभ्यासोंके लिये सामग्री दी है जिससे रचनामें कुशल होनेके लिये भाषाका भी विकास हो सकता है तथा कल्पनाका भी। इस सामग्रीका पूर्ण उपयोग तथा इसमें नवीनता लानेका कुल भार अध्यापककी योग्यता-पर निर्भर है। इस विवेचनके साथ रचना-शिक्षाका प्रकरण समाप्त किया जाता है।

१२

व्याकरणकी शिक्षा

व्याकरणकी शिक्षाके बिना भाषा-विषयक शिक्षा कदापि पूर्ण नहीं होती। व्याकरण ही भाषाका अनुशासक होता है। व्याकरणके नियमोंको न मानकर चलनेसे भाषा उच्छृङ्खल हो जाती है और जिस प्रकार उच्छृङ्खल व्यक्तिकी चाल-ढाल निरङ्कुश हो जानेके कारण किसीकी समझमें नहीं आती और समाज उसे अपना त्याज्य सदस्य समझने लगता है उसी तरह उच्छृङ्खल भाषा भी किसीकी समझमें नहीं आती और लोग उसे हीन दृष्टिसे देखने लगते हैं। यदि भाषाको रथ और भावको रथी मान लें तो व्याकरणको सारथी मान सकते हैं क्योंकि व्याकरण ही भाषाको इस प्रकार सम्यक् मार्ग पर चलाता है कि अभिप्रेत भाव सरलतासे अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाते हैं। कहनेका तात्पर्य यह कि व्याकरणकी शिक्षा भाषा-शिक्षाका एक आवश्यक और

अनिवार्य अङ्ग है। किन्तु शुष्क नियमों और उपनियमोंका एक बृहत् समुच्चय होनेके कारण उसकी गिनती नीरस विषयोंमें की जाती है। गणितकी तरह व्याकरण भी रूखा विषय समझा जाता है और उसकी जटिलताके कारण विद्यार्थी व्याकरणके पठन-पाठनसे बहुत घबराते हैं। व्याकरण-से भय खानेवाले विद्यार्थियोंकी सख्या सभी देशोंमें अधिक पाई जाती है किन्तु नागरीके विद्यार्थी तो व्याकरण-का प्रायः निरादर ही किया करते हैं। हिन्दीके बड़े-बड़े लेखक, नाटककार और कवि अपनी रचनाओंमें व्याकरण-सम्बन्धी भद्दी भूलें करते पाए गए हैं। हिन्दीके एक सुप्रसिद्ध नाटककारकी आदत थी कि वे सदा 'प्रत्येक' शब्दका प्रयोग बहुवचनके साथ ही किया करते थे। वे 'प्रत्येक वृत्त' न लिख-कर 'प्रत्येक वृत्तों' ही लिखा करते थे। हिन्दीमें फैले हुए व्याकरण-विषयक इस व्यापक आतङ्कका बहुत कुछ उत्तर-दायित्व सस्कृत व्याकरणपर है। संस्कृतका व्याकरण संसार भरकी भाषाओंके व्याकरणोंकी अपेक्षा कहीं अधिक पूर्ण है और उसकी पूर्णता ही उसकी जटिलताका कारण है। इसी जटिलताके कारण संस्कृतके वैयाकरणोंमें यह प्रवाद प्रचलित है कि बारह वर्ष पढ़े बिना संस्कृत व्याकरणकी पूरी जानकारी हो ही नहीं सकती। ध्यान रखना चाहिए कि संस्कृतकी आधुनिक पाठन-पद्धतिमें सुग्गाही आदर्श माना जाता है। एक अक्षर भी समझे बिना सारी पोथी कंठाग्र कर लेना ही करामातकी बात समझी जाती है। इस प्रकार संस्कृत व्याकरणके आतङ्कका प्रभाव हिन्दीवालों पर भी पड़

गया और वे भी व्याकरणके नामसे चौंकने लगे। परन्तु यदि ध्यान देकर देखा जाय तो व्याकरण पढ़ना-पढ़ाना भयकी बात नहीं है।

रचना-शिक्षाके साथ-साथ व्याकरणकी पढ़ाई भली प्रकार हो सकती है। पर इसके साथ ही केवल व्याकरणके लिये कार्यक्रममें प्रतिदिन एक घण्टा समय निकाल देना अच्छी बात नहीं। भाषा और लिपिकी तरह हिन्दीका व्याकरण भी सरल और सुबोध है तथा बड़ी सरलतासे पढ़ा और पढ़ाया जा सकता है। परन्तु हिन्दी व्याकरण पर विचार करनेके पूर्व हिन्दी भाषाके उद्‌गम पर दृष्टि डालना बहुत आवश्यक है। व्याकरण ही शब्द और वाक्य पर अनुशासन करता है इसलिये किसी भाषाका व्याकरण पढ़नेके पहले उस भाषाके निकास और विकास पर ध्यान देना चाहिए क्योंकि शब्दोंकी अधिकांश संख्या किसी परम्परामें बँधी हुई किसी भाषामें आती है। हमारे यहाँकी सबसे प्राचीन प्राप्त भाषा वैदिक संस्कृत है । जौर्ज ए० ग्रिअर्सनके अनुसार जिस समय भारतकी राष्ट्रभाषा वैदिक संस्कृत थी उस समय भी पौरस्त्य, प्रतीच्य, उदीच्य और दाक्षिणात्य प्राकृतें प्रान्तीय उपभाषाओंका काम कर रही थीं। लौकिक संस्कृतका यद्यपि इनपर प्रभाव पड़ा फिर भी इनका स्वतन्त्र अस्तित्व नष्ट न हुआ। बहुत दिनों बाद इन्हीं प्राकृतोंसे मागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री और पैशाची प्राकृतोंका अभ्युदय हुआ। कुछ समय बाद इन्हीं प्राकृतोंने अपने ही नामसे प्रसिद्ध चार अपभ्रंशोंको जन्म दिया जिनसे वर्तमान भारतकी हिन्दी,

गुजराती, मराठी और बँगला आदि भाषाएँ निकली हैं। इसीलिये हम अपभ्रंशको हिन्दीकी माँ कहते हैं। स्वर्गीय पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी अपभ्रंशको पुरानी हिन्दी ही कहते थे। अपभ्रंशका एक उदाहरण लीजिए जिसमें आपको वर्तमान नागरीकी कुछ सूक्ष्म झलक मिलेगी—

पुत्तेँ जाएँ कवणु गुणु अवगुणु कउणु मुएण।
जा बप्पीकी भुंहडी चम्पिज्जइ अवरेण॥

कहनेका तात्पर्य यह है कि जिस हिन्दी भाषाका हम आज प्रयोग करते हैं वह बहुत छनकर वर्त्तमान अवस्थामें पहुँची है। इसलिये उसमें बहुतसे शुद्ध संस्कृत शब्द हैं जिन्हें हम तत्सम कहते हैं, बहुतसे शब्द अपभ्रंशों द्वारा बिगड़ कर आए हैं जो तद्भव कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त बहुतसे ऐसे शब्द भी हैं जो हमारे देशमें व्यवहारमें आ गए और जिन्हें हम देशी कहते हैं। शेष विदेशी भाषाओंसे आ गए हैं। पर अधिकांश शब्द संस्कृत तत्सम और तद्भव ही हैं। ऐसी स्थितिमें हमारे यहाँ शब्द-निर्माण कई प्रकारसे होता है। कुछ संस्कृत रूपोंसे, कुछ देशी रूपोंसे और कुछ मिले रूपोंसे। हिन्दी विकासोन्मुख भाषा है। अमरवाणी संस्कृतके समान इसमें शब्द-रचनाका कोई व्यापक नियम नहीं बनाया जा सकता।

योग्यता, आकांक्षा और आसत्तियुक्त शब्द-समूह ही वाक्य कहलाता है। वाक्य-रचना गद्य और पद्य दोनोंमें होती है। पर दोनोंके गठनमें अन्तर होता है। नागरी-गद्य-गठनमें प्रायः लिङ्ग-विषयक कठिनाई पड़ती है। शब्दके स्वरूप

और धातुके गठन पर ध्यान देकर यह कठिनाई दूर की जा सकती है। हमने बहुतसे शब्द अँगरेजी और फारसीके वजन पर ढाले हैं। अतः लिङ्ग-निर्णयका सबसे अच्छा मार्ग यह है कि जिस भाषाका शब्द हो उसीके अनुसार उसका लिङ्ग-निर्देश भी किया जाय।

कहनेका तात्पर्य यह है कि हमारे यहाँ लिङ्ग-निर्णयकी तीन प्रणालियाँ प्रचलित हैं। पहली प्रणाली यह है कि हम विदेशी शब्दोंका अपने यहाँ भी वही लिङ्ग रखते हैं जो उस भाषामें होता है। दूसरे, हम अपने यहाँ प्रचलित पर्यायके आधार पर शब्द विशेषका लिङ्ग निर्णीत करते हैं जैसे—कलम मूलतः पुल्लिग है, हमारे यहाँ पर्य्यायवाची शब्द लेखनी है। अतः हम लेखनीके वजनपर कलमको भी स्त्री-लिङ्ग ही लिखते और बोलते हैं। इस सम्बन्धमें तीसरा नियम यह है कि प्रथम प्रयोगकर्त्ताने जिस लिङ्गमें शब्दका व्यवहार किया हो वही लिङ्ग प्रामाणिक माना जाय।

इसके अतिरिक्त नागरीमें एक विचित्रता और भी है। दूसरी भाषाओंमें संज्ञाका ही लिङ्ग परिवर्त्तन होता है पर क्रियाका रूप स्थिर रहता है। हिन्दीमें संज्ञाके साथ-साथ क्रिया का भी लिङ्ग परिवर्त्तन होता है, जैसे—राम आता है; सीता आती है। अध्यापकको हिन्दीकी इस विशेषता पर भी विशेष ध्यान दिलाना चाहिए।

इसके साथ ही यह एक व्यापक नियम है कि ईकारान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग ही होते हैं। परन्तु हिन्दी में छः ऐसे शब्द हैं (दही, मोती, हाथी, घी, जी, पानी) जो ईकारान्त होते

हुए भी पुल्लिङ्ग ही जाने और माने जाते हैं। इस प्रकारके अपवाद-स्वरूप नियमोंका परिचय विद्यार्थीको अवश्य देना चाहिए। नागरीके गठनके अनुसार यह एक नियम है कि पुल्लिङ्ग आकारान्त शब्दोंका रूप 'आ' के स्थान पर 'ए' हो जाता है, और यह 'ए' द्वितीया अर्थात 'को' का वाचक हो जाता है। जैसे 'आगरे गया' का अर्थ 'आगरेको गया' होता है। पर यह परिवर्त्तन स्त्रीलिङ्ग आकारान्त शब्दोंमें नहीं हो सकता। हम कलकत्ते या पटने जा सकते हैं पर 'मथुरे' नहीं जा सकते।

वाक्य बिना कारक और क्रियाके नहीं बनता। अतः वाक्यमें कारक और क्रियाका सम्बन्ध होना आवश्यक है। कारकका सम्बन्ध क्रियासे होता है। इसीलिये संस्कृतवाले सम्बन्ध कारकका औचित्य स्वीकार नहीं करते और छः ही कारक मानते हैं। परन्तु हिन्दीवालोंने सम्बन्ध-कारक भी मान रक्खा है इसलिये हिन्दीमें कारकोंकी संख्या सात है। विभक्ति वह प्रत्यय है जो शब्दमें लगकर अन्य शब्दोंसे उसका सम्बन्ध बताती है। अतः व्याकरणकी शिक्षामें कारक और विभक्तिका ज्ञान देना आवश्यक है। इसके बिना शुद्ध वाक्य रचना हो ही नहीं सकती। हिन्दीमें 'ने' का प्रयोग बहुत व्यापक होनेके साथ-साथ अव्यवस्थित भी है। अध्यापकको इसकी विशेषता अवश्य समझानी चाहिए। परन्तु हमारे बहुतसे अध्यापक ही 'दशरथ कहे थे' जैसे वाक्योंका प्रयोग करते पाए जाते हैं।

व्याकरणकी शिक्षण-पद्धति

व्याकरण पढ़ानेकी पाँच प्रणालियाँ कही जाती हैं—

(१) सूत्र-प्रणाली
(२) प्रयोग-प्रणाली
(३) पाठ्य-पुस्तक-प्रणाली
(४) अव्याकृति-प्रणाली
(५) सहयोग-प्रणाली

सूत्र-प्रणालीमें व्याकरणके नियम कण्ठस्थ करा दिए जाते हैं और बादमें उदाहरणोंके द्वारा समझा दिए जाते हैं।

सूत्र-प्रणालीसे एकदम उल्टी प्रयोग-प्रणाली है। अँगरेजी-की 'इण्डक्टिव' प्रणालीकी तरह इसमें पहले पर्य्याप्त उदाहरण दे दिए जाते हैं और अन्तमें एक व्यापक नियम निकलवाया जाता है। यह सूत्र-प्रणालीकी अपेक्षा अधिक उपयोगी है। इस पद्धतिसे व्याकरण पढ़ानेमें विद्यार्थीकी उत्सुकता अन्त तक बनी रहती है जिससे वह सब बातें सुनता, समझता और धारण कर लेता है। यदि व्याकरण पढ़ाना अनिवार्य हो तो उसमें इसी पद्धतिका प्रयोग उचित है।

तीसरी अर्थात् पाठ्य-पुस्तक-प्रणालीको हम सुग्गा-प्रणाली कह सकते हैं। संस्कृत व्याकरणकी आधुनिक शिक्षा प्रायः इसी प्रणालीसे दी जाती है। विद्यार्थी सारी पुस्तक बिना कुछ समझे-बूझे कण्ठस्थ कर लेता है। यह नियम कष्टसाध्य होनेके साथ-साथ व्यर्थ भी है। सुग्गा-प्रणालीसे

विद्यार्थीको कोई वास्तविक लाभ नहीं होता, केवल स्मरण-शक्तिपर व्यर्थका बोझ अवश्य पड़ता है।

अव्याकृति-प्रणालीवाले अलग व्याकरण-शिक्षाकी उपयोगिताको नहीं स्वीकार करते। उनकी दृष्टिमें व्याकरण पढ़ाना ही दोष है। उनका कथन है कि उन लेखकोंकी ही रचनाएँ पढ़ो जिनका भाषा पर अधिकार है। धीरे-धीरे तुम भी भाषापर अधिकार प्राप्त कर लोगे। मातृभाषाके सम्बन्धमें तो यही प्रणाली निःसन्देह सर्वश्रेष्ठ है।

सहयोग-प्रणालीवाले इतनी दूर तक तो नहीं जाते पर व्याकरणके प्रति उनका भी भाव अव्याकृतिवालों ही की तरहका है। वे स्वतन्त्र रीतिसे व्याकरण-शिक्षाके विरोधी होते हुए भी इतना स्वीकार करते हैं कि आवश्यकतानुसार रचना-शिक्षणके साथ-साथ व्याकरणके नियम भी बताए जा सकते हैं।

ऐसी दशामें हम चाहे जिस प्रणालीसे व्याकरण पढ़ावें पर इसपर अवश्य ध्यान दें कि नागरीमें वाक्यविश्लेषण और पदच्छेदकी बिलकुल आवश्यकता नहीं पड़ती, इसलिये न तो इन्हें पढ़ानेकी आवश्यकता है और न तो प्रश्न-पत्रमें पूछनेकी।

इस सम्बन्धमें यह प्रश्न रह ही जाता है कि व्याकरण कब पढ़ाया जाय। प्रारम्भिक अवस्थावाले विद्यार्थीको व्याकरण पढ़ाना उसपर केवल एक बोझ लादना है। यह अवस्था व्याकरण जैसे विषयका अध्ययन करने योग्य बिलकुल नहीं है। रचनामें थोड़ी-बहुत गति हो जानेके बाद ही व्याकरणकी शिक्षा श्रेयस्कर है। लार्ड मेकौले कहा करते

थे कि मनुष्य उसी भाषाका पूर्ण पण्डित हो सकता है जिसे उसने पहले और जिसका व्याकरण उसने पीछे सीखा हो। उदाहरणके लिये मातृभाषाको ले लीजिए। मातृभाषा-पर हमारा अबाध अधिकार इसीलिये हो जाता है कि हम भाषा पहले सीख लेते हैं और उसका व्याकरण पीछे।

उक्तियोँका प्रयोग

व्याकरणका काम केवल भाषाको व्यवस्थित करना है। अतएव व्याकरणको पतञ्जलिने शब्द-शासन नहीं शब्दानु-शासन कहा है। वाक्यका कौनसा अङ्ग किस स्थान पर रहना चाहिए इसकी व्यवस्था करना व्याकरणका उद्देश्य है। किन्तु भाषामें चमत्कार द्वारा सौन्दर्य्य उत्पन्न करना व्याकरणके बूतेकी बात नहीं। इस अभावकी पूर्त्ति मुहावरा करता है। मुहावरा एक प्रकारका विद्रोही सुधारक है जो अनुशासक व्याकरणके बन्धनोंकी परवाह न कर अपने उद्देश्यकी पूर्त्तिके लिए सतत प्रयत्न-शील रहता है और बेचारा व्याकरण मन मारकर उसकी धाँधलियोंको स्वीकार करनेके लिये बाध्य हो जाता है।

भाषा यद्यपि मनोभावोंको प्रकट करनेका सर्वोत्कृष्ट साधन है तथापि इस साधनके अभावमें भी मनुष्यका कार्य कभी रुका न रहा। वह पाणिमुद्राओं, अक्षि-विकारों तथा अस्पष्ट ध्वनि-संकेतों द्वारा अपना काम चला ही लेता था। आज भी भाषा जब भावोंको स्पष्ट तथा व्यक्त करनेमें अस-फल रह जाती है तब मनुष्य अक्षिविकार, पाणिविहार आदि सहज और स्थूल साधनों द्वारा ही अपने भावोंको दूसरों

पर ठीक-ठीक प्रकट कर पाते हैं। भावोंकी तीव्र, मध्यम तथा साधारण अनुभूतिके अनुसार ही भाषाकी गति भी तीव्र, मध्यम अथवा साधारण होती है। बहुधा यह देखा जाता है कि क्रोध, वात्सल्य, हर्ष, भय और आश्चर्यकी तीव्र अनुभूतियाँ भावोंको भाषाके साँचेमें नहीं ढलने देतीं। ऐसे अवसरों पर मनुष्य उपर्युक्त भावसूचक विभिन्न संकेतात्मक ध्वनियोंका प्रयोग करता है। अतः भाषा भावके सहारे चलती है। रसना-रङ्गमच पर यदि भाव-सूत्रधार मौन रहे तो भाषा-नटी भी निश्चेष्ट ही रहेगी।

हम कह चुके हैं कि भाषा रथ है, भाव रथी, व्याकरणको सारथी मान लीजिए। यद्यपि रथको सारथी चलाता है तथापि सारथी पर रथीका ही नियन्त्रण रहता है। जिस प्रकार सारथी द्वारा रथ एक निश्चित मार्ग पर जाते हुए भी रथी द्वारा बीचमें ही भिन्न दिशाकी ओर जानेके लिये बाध्य किया जा सकता है उसी प्रकार व्याकरणके बन्धनमें चलती हुई भाषा भी भावके संकेतपर पथ-परिवर्त्तन कर देती है। व्याकरण भी उस परिवर्त्तनको माननेके लिये बाध्य हो जाता है और यही परिवर्त्तित प्रयोग मुहावरा कहलाता है।

भाषाकी अवयुति वाक्य है। ऊपर कहा जा चुका है कि योग्यता, आकांक्षा और आसक्तियुक्त पद-समूह ही वाक्य कहलाता है। किसीने कहा 'पानी बरसता है'। इस वाक्यमें पानी और बरसना शब्दोंके अर्थोंमें अबाध सम्बन्ध है। श्रोता या पाठक इस वाक्यको सुनकर या पढ़कर समझेगा कि आकाशसे जल गिर रहा है। जलका गिरना तथ्य है।

वाक्यने इस तथ्यके ज्ञानकी पूर्त्ति की। व्याकरणकी दृष्टिसे यह वाक्य बिलकुल ठीक उतरा।

अब मान लीजिए ग्रीष्म ऋतु है। जोरोंकी गर्मी पड़ रही है। सूर्य तप रहा है। आँखें आकाशकी ओर उठनेमें असमर्थ हैं। किसीको गर्मीकी तीव्र अनुभूति हुई। इस अनुभूतिको उसकी तीव्रताके अनुसार ही प्रकट करनेके लिये उसने कहा 'आग बरस रही है'। अत्यधिक गर्मीकी सूचना देनेके लिये उसने इस वाक्यका प्रयोग किया। अग्निमें उष्णता और जलानेकी शक्ति होती है। इधर गर्मीकी मात्रा इतनी बढ़ी हुई है कि शरीर जलता सा जान पडता है। अतः गर्मीकी अधिकता और अग्निमें एक स्वाभाविक साम्य स्थापित हुआ। अत्यधिक गर्मीकी उत्पत्तिसे पृथ्वीका कोई स्पष्ट सम्बन्ध नहीं दिखाई देता वरन् सूर्यही उसका गोचर कारण लक्षित होता है। सूर्य आकाशमें है और पानी भी आकाशसे ही बरसता है। पानीसे बरसना क्रिया लेकर आगके साथ लगाई गई। अतः "आग बरस रही है" इस वाक्यका अर्थ यह न लगाया जायगा कि आगके अङ्गारे अथवा चिनगारियाँ आकाशसे भूमि पर गिराई जा रही हैं। उपर्युक्त वाक्यसे गर्मीकी अधिकता ही व्यञ्जित होगी। अर्थात् वाक्यका अभिधेयार्थ न लेकर लक्ष्यार्थ ही लिया जायगा। अभिधेयार्थका निषेध कर शब्दकी जिस शक्तिसे लक्ष्यार्थ लिया गया उसे लक्षणा * कहते हैं।

---

* मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययान्योर्थः प्रतीयते।
रूढेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणाशक्तिरर्पिता॥ साहित्यदर्पण।

इसीका एक और उदाहरण "सिर उड़ाना" भी ले लीजिए। सिर कोई पक्षी, पतङ्ग या परदार वस्तु नहीं है जो उड़ाया जा सके। वायुमें निराधार संचरणके व्यापारको उड़ाना कहते हैं। तलवारके द्वारा कटने पर सिर उछलकर भूमि पर गिरता है। सिरके साथ निराधार संचरणके व्यापारका आरोप किया गया अतः सिर उड़ानाका लक्ष्यार्थ हुआ सिर काट देना। यही आलङ्कारिक अनुकरणात्मक आरोप अथवा लक्षणा मुहावरोंका मूल है। कोई भी आलङ्कारिक अनुकरणात्मक आरोपसे युक्त पद सतत प्रयोग द्वारा रूढ़ हो जाने पर मुहावरा या रूढ़ोक्ति कहलाने लगता है। प्रारम्भमें तो आलङ्कारिक अनुकरणात्मक आरोपोंकी गिनती प्रयोजन-वती लक्षणामें होती है और सतत प्रयोग द्वारा कुछ समय बीत जाने पर वही रूढ़ा लक्षणा कहलाती है और लोग उसे मुहावरा, रूढ़ोक्ति, व्यवहारोक्ति कहने लगते हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि कोई वाक्य या वाक्यांश रूढ़ हुए बिना मुहावरा कहला ही नहीं सकता।

मुहावरा स्वयं अरबी-भाषाका शब्द है। इसकी उत्पत्ति हौर अथवा हरार शब्दसे बताई जाती है। अरबी भाषामें 'हौर' शब्दका अर्थ गर्म्म होता है। गर्म्म शब्दके अभिधेयार्थ-का निषेध कर यदि उसके लक्ष्यार्थ पर विचार करें तो इसका अर्थ होगा अत्यधिक प्रयोगमें आनेवाली वस्तु। 'जैसे बाजार गर्म्म है' कहनेसे कोई यह न समझेगा कि बाजारमें आग लग गई है या वह तप रहा है। इसका लाक्षणिक पर सीधा-सादा अर्थ यही होगा कि बाजारमें क्रय-विक्रय अधिक होता है।

हिन्दी शब्दसागर, फ़रहङ्ग आसफ़िया और वेब्स्टर डिक्शनरी 'आदि हिन्दी, उर्दू और अँगरेजीके प्रामाणिक कोषोंमें मुहावरा शब्दके कई अर्थ किये गए हैं पर सबमें पाई जाने-वाली जो सामान्य बात है वह है मुहावरेका चिर और निश्चय प्रयोग। सबके विचारोंमें सामान्यतया व्यापकता है और सभीने लक्षणाके ही लक्षणको किसी न किसी रूपमें स्वीकार किया है। परन्तु मुहावरेका एक प्रचलित अर्थ अभ्यास भी है। यदि इस अर्थको भी दृष्टिमें रखकर विचार करें तो मुहावरेकी एक कामचलाऊ परिभाषा निर्धारित करनेमें सहायता मिल सकती है और वह परिभाषा इस प्रकारकी होगी कि भाषामें सतत अभ्यास-द्वारा संस्कृत, सर्वसम्मत तथा रूढ़ आलङ्कारिक अनुकरणात्मक आरोपसे युक्त चामत्कारिक प्रयोगोंको मुहावरा कहते हैं।

हिन्दी मुहावरोंकी चर्चा करते समय इस पर ध्यान देना बहुत आवश्यक है कि इन्हें शुद्ध, सुन्दर और प्रभावशाली रूप देनेका अधिक श्रेय उर्दूके शायरोंको है। पर इसका यह भाव नहीं है कि उन्होंने मुहावरोंकी कोई टकसाल कायम की। मुहावरोंकी उत्पत्तिमें ग्रामों और ग्रामीण जनताका महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। अधिकांश मुहावरे हमारी अपढ़ और अशिक्षित जनता द्वारा उत्पन्न किए गए हैं। प्रकृतिके सहज, सुन्दर और चिर परिचित स्वरूपों, उपकरणों तथा व्यापारों-का अन्य स्थलों पर आरोप कर उन्होंने उसे रूढ़ रूप दिया। विद्वानों-द्वारा वे ही रूढ़ प्रयोग कट-छँट, सँवर और सुधर कर भाषाको सजानेवाले अनमोल आभूषण बन गए।

जिस प्रकार अशिक्षित समाजने शब्द-रचना की है उसी प्रकार शब्द-समुदायकी रचना भी। हमारे सुन्दर और सजीव शब्दोंके समान हमारे सर्वोत्तम मुहावरे भी बैठकखानों अथवा पुस्तकालयोंमें न उत्पन्न होकर कल-कारखाने, रसोईघर, खेत-खलिहानमें उत्पन्न हुए हैं। किसान, मजदूर, अशिक्षित स्त्रियाँ तथा समाजकी नीची श्रेणीके अज्ञजन अपने भाव प्रकट करनेके लिये कभी-कभी ठेठ घरेलू शब्दोंका प्रयोग कर बैठते हैं। ये प्रयोग इतने चुस्त, शब्दलाघवतायुक्त और सामान्य भाव-भूमिके इतने समीप पहुँचे हुए होते हैं कि आगे चलकर इनकी गणना सरलतापूर्वक मुहावरोंमें हो जाती है।

बहुतसे असम्बद्ध वाक्य और वाक्यांश भी मुहावरोंकी तरह प्रयुक्त होते हैं। ये क्यों और कैसे उत्पन्न हुए और मुहावरोंमें इनकी गणना क्यों होने लगी इसका निश्चित कारण निर्दिष्ट करना तो बड़ा ही कठिन है। शायद ये इस बातके परिचायक हैं कि मानव मस्तिष्कमें निष्फल तथा असम्बद्ध बातोंके लिये भी कुछ स्थान रहता है और मनुष्य इन उच्छृङ्खल और असङ्गत प्रयोगोंको इतना प्यार करता है कि तर्क या व्याकरणके बन्धनकी कोई परवाह न करके इन्हें अपने नित्यप्रतिकी बोलचालमें स्थान दे देता है। छः पाँच करना, नौ दो ग्यारह होना आदि ऐसे ही मुहावरे हैं।

मुहावरा सिखानेकी सबसे सरल, स्वाभाविक और व्यवहारिक पद्धति तो यह है कि विद्यार्थीके हाथमें ऐसी किताबें दी जायँ जिनमें मुहावरोंका प्रचुर प्रयोग हुआ हो।

इस सम्बन्धमें पण्डित रत्ननाथ दर सरशारके फ़िसानए आज़ादके अनुवाद 'आजाद-कथा' तथा बाबू शिवपूजन-सहायके 'देहाती दुनिया' और हरिऔधजीके चुभते तथा चोखे चौपदे जैसी पुस्तकोंका नाम लिया जा सकता है। इसके साथ ही पाठ्य-पुस्तकमें जहाँ मुहावरा आवे वहाँ विद्यार्थीको उसका अर्थ बतलाते हुए तत्संबन्धी अन्य मुहावरोंका भी उसे परिचय करा दिया जाय। यदि आँखसे संबन्ध रखनेवाला कोई मुहावरा आवे तो वहीं पर आँखसे संबन्ध रखनेवाले दूसरे मुहावरोंका भी परिचय करा देना अध्यापकके लिए आवश्यक है। पाठ्य-पुस्तकोंमें अवस्थानुक्रमसे विद्यार्थियोंके लाभार्थ घरेलू और आङ्गिक मुहावरोंसे प्रारम्भ करते हुए जीवनके अन्य विविध क्षेत्रोंसे संबद्ध मुहावरोंका धीरे-धीरे ज्ञान करा देना चाहिए।

इसके बाद अन्य भाषाके मुहावरोंका भी अपनी भाषामें किस प्रकार अनुवाद किया जाय इसकी शिक्षा भी आवश्यक है। इस सम्बन्धमें प्रोफेसर आजादका यह कहना कि "एक ज़ुबानके मुहावरेका दूसरी ज़ुबानमें तरजुमा करना जायज़ नहीं" पूर्णतः ठीक नहीं जान पड़ता है क्योंकि परस्पर संबन्धमें आने पर विभिन्न भाषाओंका एक दूसरे पर प्रभाव पड़ना और परस्पर मुहावरोंका आदान-प्रदान होना स्वाभाविक ही है। विचारणीय बात तो केवल यह है कि मुहावरोंका शब्दानुवाद न करके भावानुवाद ही करना अच्छा होता है। दूसरी भाषाके मुहावरेका अनुवाद अपनी भाषामें करते समय इसका प्रयत्न करना चाहिए कि जहाँ तक हो सके अन्य

भाषाके मुहावरेके अर्थका द्योतक जो मुहावरा अपने यहाँ हो उसीका प्रयोग किया जाय जैसे—'टु टेक टु वन्स हील्स' का अनुवाद 'सिर पर पैर रखकर भागना' अच्छी तरह किया जा सकता है। इसी प्रकार "बर्ड्स आइ व्यू, टु थ्रो डस्ट इन वन्स आइज़ और टु स्ले दी स्लेन" आदिका शाब्दिक अनुवाद विहङ्गम दृष्टि, आँखमें धूल झोंकना, मरेको मारना आदि लिखकर किया जा सकता है। परन्तु 'नौट् टु लेट् ग्रास ग्रो अन्डर वन्स फ़ीट' और 'क्रोकोडाइल्स टीयर्स' का अनुवाद 'पैर तले घास न उगने देना' या 'नक्राश्रु' बहुत ही अनुचित है। नागरीमें इन मुहावरोंका कोई अर्थ ही नहीं। प्रत्येक जातिकी धार्मिक भावनाओं और अन्ध-विश्वासोंमें अन्तर होता है। यदि कोई अपने इस विश्वासके अनुसार कि घड़ियाल अपने शिकारको खानेके पहले रोता है किसी प्रच्छन्न पातकीके आँसुओंको 'क्रोकोडाइल्स टीयर्स' कहें तो अनुचित नहीं। पर जिस जातिके यहाँ कभी ऐसी बात न सुनी हो गई उसकी भाषामें इसका अनुवाद नक्राश्रु करना तो व्यर्थ ही है।

अतः रूढ़ोक्तियोंकी शिक्षा देते समय उसके उचित तथा शुद्ध प्रयोगका सदा ध्यान रखना चाहिए और यथासंभव अधिकसे अधिक रूढ़ोक्तियोंका प्रयोग सिखाना चाहिए क्योंकि इनसे भाषामें चिकनाई और सफाई आती है।

१३

पाठ्य-पुस्तक

हमारे यहाँ प्राचीन कालमें लोग सब बातें कण्ठस्थ कर लिया करते थे। मौखिक शिक्षाकी परम्परा बँधी हुई थी। इस परम्परामें सारी बातें गुरु-मुखसे सुनकर कण्ठस्थ कर ली जाती थीं। सुन-सुनकर याद किए जानेके कारण ही हमारे वेद आज भी श्रुति कहलाते हैं। परन्तु अब वह व्यवस्था बदल गई है। आज हमारी शिक्षा-रूपी विशाल अट्टालिकाके ईंट-पत्थर पुस्तकें ही हैं। कुशल कारीगरकी तरह अध्यापक उन्हीं पुस्तकोंके मसालेसे अपने शिष्योंके लिये शिक्षा-रूपी सदनका निर्माण करता है।

कहनेका तात्पर्य्य यह है कि इन दिनों हमारी शिक्षाकी व्यवस्थामें पुस्तकोंका समुचित चुनाव विशेष महत्त्व रखता है। हमारे देशमें भाषाका अध्यापक चारों ओरसे जकड़ा

हुआ है। उसे अपनी प्रतिभाका, अपनी कुशलताका परिचय देनेका अवकाश ही नहीं है। उसे शिक्षा-विभाग द्वारा निश्चित पाठ्यक्रम और पाठ्य-पुस्तकोंकी सीमामें ही वन्दी रहना पड़ता है। जहाँ तक पाठ्यक्रमका सम्बन्ध है वहाँ तक तो उचित भी है किन्तु जब पाठ्य-पुस्तकोंका ठेका भी शिक्षा-विभाग ले लेता है और अध्यापकके हाथ बाँध देता है तब तो बड़ा अचरज और दुःख होता है। अचरज इसलिये कि शिक्षा-शास्त्र सिखाने और पढ़ानेवाले एक ओर तो अध्यापककी स्वतंत्रताके लिये आकाशको सिर पर उठाए हुए हैं किन्तु जब अध्यापकको स्वतन्त्रता देनेकी बात आती है तो वे अध्यापकोंको अनाड़ी और मूर्ख समझने लगते हैं। उनकी समझमें अध्यापक एक ऐसा जीव है जिसमें स्वतः बुद्धि नहीं है, विवेक नहीं है। प्रत्येक बात उसे सिखानी और सुझानी ही चाहिए। जब हम अपने स्कूलोंमें शिक्षा-शास्त्रसे परिचित अध्यापकोंको रखनेका विधान करते हैं, तब हम उन्हें पाठ्य-पुस्तकों तथा अन्य ऐसी बातोंके चुनावकी स्वतंत्रता क्यों नहीं देते। दुःख इसलिये होता है कि पाठ्य-पुस्तकोंके निर्माणका काम जिन लोगोंके हाथमें है वे या तो कौलेजोंमें प्रोफ़ेसर हैं जिन्हें शिक्षा-मनोविज्ञानसे कोई सम्बन्ध नहीं है या ऐसे महापुरुष हैं जो प्रकाशकोंके हाथकी कठपुतलियाँ हैं। इसका दुष्परिणाम यह हो रहा है कि हमारे बालकोंके लिये जो पाठ्य-पुस्तकें तैयार की जा रही हैं उनमें न तो क्रम है न अनुकूलता, न आदर्श न व्यावहारिकता, न भाषा-शैलीका विचार न विषयोंका उचित चुनाव। यही कारण है कि

हमें विवश होकर इस विषय पर भी अपनी लेखनीकी जीभ खोलनी पड़ी है।

पाठ्य-पुस्तकोंके निर्माणमें निम्नलिखित नियमोंका विधान किया गया है।

१. पाठ्य-पुस्तकोंकी भाषा अवस्थाके क्रमसे तद्भवसे तत्समकी ओर प्रवृत्त होती हो।

२. घरेलू रूढ़ोक्तियोंसे प्रारंभ करके सामाजिक तथा साहित्यिक रूढ़ोक्तियोंका प्रयोग किया जाय।

३. सरल वाक्योंसे प्रारम्भ करके गुम्फित तथा लम्बे मिश्रित वाक्योंका प्रयोग हो।

४. घरेलू विषयोंसे प्रारम्भ करके पास-पड़ोसके फिर देशके और फिर संसारके विषयोंका वर्णन हो।

५. साधारण प्राकृतिक अनुभवोंसे प्रारम्भ करके वैज्ञानिक आविष्कारों तथा अन्य उच्चतर वैज्ञानिक अनुभवोंकी व्याख्या हो।

६. साधारण तुकबन्दियों तथा पद्योंसे लगाकर उदात्त कविताओंका समावेश हो किन्तु उनमें सुरुचि, भाव-सरलता तथा उदात्त वृत्तियोंको उकसानेकी क्षमता हो।

७. विभिन्न भाषा-शैलियों तथा साहित्यिक स्वरूपोंका सन्निवेश हो।

८. जब पाठ्य-पुस्तक निर्माण की जाय तब बालकोंकी मानसिक अवस्थाका ध्यान रक्खा जाय।

९. पाठ्य-पुस्तकोंकी सामग्री मनोरञ्जक हो, ज्ञान बढ़ानेवाली हो तथा विद्यार्थियोंकी रचनात्मिका बुद्धिको उत्तेजित करने वाली हो।

१०. कोरे उपदेश न हों, जो हों वे कथाके अथवा काव्यके आवरणसे ढके हों।

११. पुस्तकों या पत्रिकाओंसे ज्योंके त्यों लेख लेकर पाठ्य-पुस्तकोंमें न रक्खे जायँ वरन् उनकी भाषा, शैली, विषय आदिका उचित संपादन बालकोंकी योग्यता तथा मानसिक अवस्थाके अनुसार कर लिया जाय।

ऊपर दिए हुए नियमोंसे ही पाठ्य-पुस्तकोंकी जाँच भी करनी चाहिए। पाठ्य-पुस्तक पढ़कर विचार करना चाहिए कि उसका मसाला सरल, मनोरञ्जक और चरित्र-निर्माणमें सहायता देनेवाला है या नहीं। इसीके साथ-साथ कहीं उसमें कोरी उपदेशात्मक बातें तो नहीं कही गई हैं। यदि पुस्तक सरल न हुई तो बालकका मन उसमें न लगेगा। मन न लगने पर उसकी मनोरञ्जकता स्वयं नष्ट हो जायगी। पुस्तकमें यदि मनोरञ्जकता नहीं है तो उसमें चरित्र-निर्माणमें सहायता देनेवाली सामग्री रहते हुए भी वह पढ़नेवालोंको भार-स्वरूप प्रतीत होगी और उसकी अच्छाइयोंका कोई प्रभाव विद्यार्थी पर न पड़ सकेगा। इसके अतिरिक्त यह

एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि कोरी उपदेशात्मक बातें प्रायः चिढ़ पैदा करती हैं। कभी-कभी उनसे प्रतिक्रियात्मक भावनाओंको भी उत्तेजन मिल जाता है जिसका परिणाम सदैव वाञ्छनीय नहीं होता। अतः पाठ्य-पुस्तकोंकी सामग्री सरल, मनोरञ्जक, ज्ञानवर्द्धक और चरित्र-निर्माणमें सहायक होनी चाहिए।

भाषा-सम्बन्धी योग्यता बढ़ाना ही पाठ्य-पुस्तकोंका प्रारम्भिक उद्देश्य होता है। अतः पाठ्य-पुस्तकोंका चुनाव करते समय उसपर भाषाकी दृष्टिसे भी विचार करना आवश्यक है। पाठ्य-पुस्तकोंमें यह आवश्यक है कि उनमें भाषा-सम्बन्धी विविध शैलियोंका प्रयोग किया गया हो। शैली ही लेखकके व्यक्तित्वकी परिचायक होती है। विविध शैलियोंका परिचय विद्यार्थियोंके ज्ञान-क्षितिजको उदार बनाता है और इन्हींके आधार पर बालक अपनी लेखनशैली चुन लेता है। इस सम्बन्धमें दूसरी विचारणीय बात यह है कि पुस्तककी भाषामें आए हुए शब्द तद्भवसे तत्समकी ओर चलें। विद्यार्थी प्रायः शब्दोंके तद्भव रूपसे परिचित रहते हैं अतः उनके द्वारा ही अपरिचित शब्दोंका परिचय कराना सीधा और स्वाभाविक मार्ग है। समाजमें भी हम परिचितों द्वारा ही अपरिचितोंसे परिचित होते हैं अतः आग, कान, पहेली आदि तद्भव शब्दोंका पहले प्रयोग कर पीछे अग्नि, कर्ण, प्रहेलिका आदि तत्सम रूपोंका प्रयोग करना चाहिए। इसी प्रकार पहले घरेलू रूढ़ोक्तियोंसे प्रारम्भ करते हुए ठेठ साहि-

जैसे दाँत निकालना, मुँह बनाना और कान उमेठना आदिका प्रयोग पहले होना चाहिए और कानके कच्चे होना, मीन-मेख निकालना और नौ दो ग्यारह होना आदिका प्रयोग बादमें। वाक्योंके व्यवहारमें भी यही क्रम रहना आवश्यक है अर्थात् सरल और साधारण वाक्योंसे रचनाका प्रारम्भ हो। धीरे-धीरे गुम्फित, श्लिष्ट और गाम्भीर्यपूर्ण वाक्यावलीका प्रयोग होता चले।

पाठ्य-पुस्तकोंके चुनावमें बालकोंकी मानसिक अवस्था-को अवश्य दृष्टिमें रखना चाहिए। इसमें यह विचार करना आवश्यक है कि हम विद्यार्थीके लिये जिस पाठ्य-पुस्तककी व्यवस्था करने जा रहे हैं उसकी सामग्रीमें ऐसी कौन-कौन सी बातें सम्मिलित हैं जिनका विद्यार्थी पर अवस्था-विशेष-के अनुकूल प्रभाव पड़ेगा। अर्थात् विद्यार्थीकी मानसिक अवस्था पर विचार करते हुए यह निर्णय करना चाहिए कि अवस्था-विशेषमें उसे क्या क्या बातें पसन्द आ सकती हैं, वर्णनकी कौन सी शैली उसे मुग्ध करती है। पहली कक्षाके विद्यार्थीको परियोंकी कहानी जितनी रुचिकर लगेगी उतनी कोलम्बसकी अमेरिका-यात्रा नहीं। पर वही जब और सज्ञान हो जायगा तब उसे परियोंकी कहानी-की अस्वाभाविकता खटकने लगेगी। तात्पर्य्य यह है कि विद्यार्थीका मस्तिष्क ज्यों-ज्यों विकासोन्मुख होता जाय त्यों-त्यों उसकी अवस्थाके अनुकूल पाठ्य-पुस्तकोंमें भी परि-वर्त्तन होना चाहिए। विषय ऐसा हो कि उसे पढ़ाना न पड़े। अध्यापकका यह काम नहीं है कि वह एक-एक शब्दका

अर्थ बतावे और एक-एक वाक्यकी व्याख्या करे। उसे तो केवल मन्त्रणा और सङ्केत द्वारा विद्यार्थीकी सहायता करनी चाहिए। जो नई शैली हो उसकी विशेषता और जो नई बात हो उसका विवरण देना चाहिए।

पाठ्य-पुस्तक कोरे उपदेशोंका संग्रह न हो। पाठ्य-पुस्तकका उद्देश्य न तो धर्म-शिक्षा देना है न विज्ञान-शिक्षा। उसका उद्देश्य भाषा तथा लोकज्ञानका विकास करना ही है। उपदेशकी भी बड़ीसे बड़ी बातें कथात्मक ढङ्गसे इस प्रकार कही जा सकती हैं कि बालक स्वयं उसमेंसे नीति निकाल ले। यह सिद्धान्त नवीन शिक्षा-शास्त्रियोंका ही नहीं है। पाटलिपुत्रके सुदर्शन नामक राजाके पुत्रोंके लिये प्राचीन भारतीय शिक्षा-शास्त्री विष्णुशर्माने भी यही नीति बरती थी। उन्होंने राजनीति-विषयक उपदेश कथात्मक ढङ्गसे ही दिए थे। "कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते" इस सम्बन्धमें ध्यान देने योग्य है। पाठ्य-पुस्तकोंमें वैज्ञानिक तथा स्वास्थ्य-सम्बन्धी उपदेश भी कथात्मक ढंगसे ही देने चाहिएँ और इसके साथ ही व्यवहारतः उक्त उपदेश देना अधिक लाभदायक है। हमारी पाठ्य-पुस्तकोंमें प्रायः धार्मिक उपदेश भरे रहते हैं। परन्तु ऐसा करना पाठ्य-पुस्तक-प्रणेताओंकी भारी भूल है। पाठ्य-पुस्तकें भगवद्गीता नहीं हैं। हम कह आए हैं कि पुस्तकों द्वारा हमारा उद्देश्य भाषा-सम्बन्धी शिक्षा देना रहता है। धर्म और विज्ञान बहुत आगेकी और सर्वथा स्वतन्त्र वस्तुएँ हैं। भाषा सिखानेका अर्थ केवल यह बतलाना है कि विभिन्न प्रभाव पैदा करनेके लिये एक बात

कितने ढंगोंसे कही जा सकती है। यदि उपदेश दिए बिना काम ही न चलता हो तो भाई-बहिनोंके प्यार, माँ-बापके आदर आदिके उपदेश दिए जा सकते हैं, यद्यपि उपदेश देनेकी अपेक्षा उदाहरण उपस्थित करना कहीं अच्छा है।

पाठ्य-पुस्तकोंमें प्रयुक्त विषय गद्यात्मक और पद्यात्मक होते हैं। विद्यार्थियोंकी प्रारम्भिक अवस्थामें उनके लिये जिस पाठ्य-पुस्तककी व्यवस्था की जाय उसका गद्य-भाग अत्यन्त सरल होना चाहिए। प्रत्येक वाक्य छोटा और सरल हो। उनमें ऐसे शब्दोंका प्रयोग किया जाय जिनसे विद्यार्थी प्रायः परिचित हो। वर्णित विषयमें सरल कहानियाँ हों। तत्पश्चात् क्रमशः दृश्य, वस्तु, घटना आदिका सरस भाषामें सरल वर्णन हो। जीवनोपयोगी वस्तुओंका ज्ञान करानेवाले उपकरण भी हों। पुनः सरल विषयोंपर विवरणात्मक निबन्ध, छोटी-छोटी सुन्दर कहानियाँ, संवाद और छोटे नाटकोंका प्रवेश भी पाठ्य-पुस्तकोंमें कराया जा सकता है। इस प्रकार शिक्षाकी अन्तिम अवस्थामें पाठ्य-पुस्तकें विविध शैलियोंके परिचायक उच्च कोटिके निबन्ध एवं अन्य साहित्यिक-रचनाओंके सन्निवेशसे सुन्दर और उपयोगी बनाई जा सकती हैं। पाठ्य-पुस्तकोंमें पद्य रखनेका मुख्य उद्देश्य कवियोंसे अथवा पद्योंसे परिचय कराना नहीं है। उसका उद्देश्य यह है कि बालकोंमें काव्यकी ओर रुचि हो, वे सूक्तियाँ चावसे कण्ठस्थ करें, उनका प्रयोग करें तथा स्वयं कविताकी रचना करें।

पाठ्य-पुस्तकोंमें गद्यकी अपेक्षा पद्यका चुनाव अधिक

कठिन है। पद्यके दो भेद हैं। एक कोरा पद्य अर्थात् तुकबन्दी जिसमें बिखरे हुए गद्य-खण्ड छन्दोंके साँचेमें ढाल दिए जाते हैं।

"चुन्नू मुन्नू भाई भाई।
करते थे वे खूब लड़ाई॥"

अथवा—

"क्या तुमको मालुम है बच्चो।
यह बन्दर की दुम है बच्चो॥"

से लेकर—

"वे ही नगर वन शैल नदियाँ जो कि पहले थीं यहाँ।
हैं आज भी पर आज वैसी जान पड़ती हैं कहाँ"—

जैसी सभी रचनाएँ पद्यके ही अन्तर्गत आती हैं। ऐसी रचनाएँ प्रारम्भिक अवस्थावाले विद्यार्थियोंके कामकी हो सकती हैं। परन्तु पाठ्य-पुस्तकोंकी सहायतासे हमारा उद्देश्य कोरा पद्य पढ़ाना नहीं होता, कविताके प्रति विद्यार्थीकी रुचि उत्पन्न करना ही हमारा प्रधान लक्ष्य रहता है। कविता मानव-जीवनकी सारी कोमलता और मधुरताकी प्रतीक है। शेष जगत्के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्धकी रक्षा और निर्वाह करना ही कविताका मुख्य उद्देश्य है। यही कविताकी परिभाषा है। तात्पर्य्य यह है कि कविताका अध्ययन भी हमारी शिक्षाका एक प्रधान अङ्ग है।

पाठ्य-पुस्तकोंमें रखने योग्य कविताओंका चुनाव करते समय हमें कवि, कविके उद्देश्य और उसकी भाषापर विचार करना पड़ता है। हमें यह देखना पड़ता है कि किस कविकी कौनसी रचना किस श्रेणीके विद्यार्थीके अनुकूल या प्रतिकूल

है। इस सम्बन्धमें सर्वप्रथम कविको ही लीजिए। हमारी पाठ्य-पुस्तकोंमें प्रायः देखा जाता है कि जो पोथियाँ चौथी-पाँचवीं कक्षाओंके लिये निश्चित की गई हैं उनमें भी कबीर, जायसी आदिकी रचनाओंको स्थान दे दिया जाता है। उन लोगोंका कहना है कि सभी कवियोंसे बालकोंका परिचय हो जाना चाहिए। किन्तु यह बड़ी भारी भूल है। प्रारम्भिक कक्षावाले विद्यार्थीके समीप इन कवियोंका कोई महत्व नहीं। कबीर वैरागी उपदेशक थे और जायसी सूफी सन्त। उन्होंने अपनी रचनाएँ बालकोंके लिये नहीं की थीं। उनका उद्देश्य सिद्धान्त-विशेषका प्रचार करना था। ऐसी स्थितिमें कोमल-मति बालकोंपर इनके सिद्धान्तों और उपदेशोंका बोझ डाल देना कदापि उचित नहीं।

इसी स्थलपर शिक्षा-सम्बन्धी इस सिद्धान्तका भी उल्लेख कर देना बुरा न होगा कि पाठ्य-पुस्तकोंमें ऐसी किसी बातको कभी स्थान न देना चाहिए जो किसी प्रकारकी वासनात्मक भावनाको उत्तेजना दे या उसका स्मरण भी दिलावे। इसके सर्वथा विपरीत पाठ्य-पुस्तकोंमें ऐसी कविताओंका संग्रह होना चाहिए जिनसे बालकोंकी उदात्त वृत्तियाँ जागरित हों, उनमें सुन्दर भावनाओंका रोपण और विकास हो।

इस सम्बन्धमें दूसरा विचार भाषा-सम्बन्धी है। हम ऊपर कह चुके हैं कि इन पुस्तकोंमें सरल वाक्योंसे भाषा आरंभ होकर गुम्फित वाक्योंकी ओर जानी चाहिए। उसी तरह कवितामें भी अभिधा वृत्तिसे उठकर व्यंग्य-काव्यकी ओर उन्मुख होना ही उचित तथा श्रेयस्कर है।

इसके अतिरिक्त पाठ्य-पुस्तक-निर्माणकी प्रणालीमें जो अनेक त्रुटियाँ हैं उनमें एक यह भी है कि पाठ्य-पुस्तक-प्रणेता इसपर ध्यान न देकर कि स्कूलोंमें पद्य पढ़ानेका उद्देश्य विद्यार्थियोंके मनमें कविताके प्रति रुचि उत्पन्न करना है, वे प्रायः सभी प्रतिनिधि कवियोंकी थोड़ी बहुत रचनाओंका संग्रह कर दिया करते हैं जिससे विद्यार्थियोंको कोई वास्तविक लाभ नहीं पहुँचता। ऐसी स्थितिमें पाठ्य-पुस्तक प्रस्तुत करते समय इसपर सतर्क दृष्टि रखनी चाहिए कि जिस कविकी रचनामें निर्माण या भाषा-सम्बन्धी कोई मतभेद हो उसे संग्रहमें कदापि स्थान न दिया जाय। उदाहरणके लिये कबीरको ले लीजिए। उनके विषयमें आज तक यही निर्णय नहीं हो सका कि उनके नामसे प्रचलित पद्य उन्हींके हैं या चेलोंके। इसीके साथ उन पद्योंसे भी दूर रहना चाहिए जिनके कारण कविका भ्रमात्मक रूप सामने आता हो। हमारी पाठ्य-पुस्तकोंमें बिहारीके उन दोहोंको प्रायः स्थान दिया जाता है जिनमें उन्होंने मन बहलानेके लिये कुछ भक्तिभावकी चर्चा की है। बिहारी स्पष्टतः शृङ्गारी कवि थे। उनके सात सौ दोहोंमें सत्तर दोहे भी शुद्ध भक्ति-विषयक नहीं हैं।

'मीत न नीत गलीत ह्वै जौ धरिए धन जोर।
खाए खरचे जौ जुरै तौ जोरिए करोर॥' (बिहारी)

ऐसे दोहे नीतिसे सम्बन्ध रखते हैं और—

'अजौं तर्‍यौनाही रह्यौ श्रुति सेवत इक अङ्ग।
नाक बास बेसर लही बसि मुकुतनके सङ्ग॥' (बिहारी)

जैसे दोहे शाब्दिक चमत्कारसे। खोजनेसे दस-बीस दोहे

भक्तिभावके भी मिल जाते हैं जिनका संग्रह पाठ्य-पुस्तकोंमें कर दिया जाता है और जिन्हें पढ़कर विद्यार्थी बिहारीको तुलसीके समान भक्ति-काव्यका प्रणेता समझ बैठते हैं। इसी प्रकार एक पाठ्य-पुस्तकमें जायसीकी प्रसिद्ध पुस्तक पद्मावतसे उद्धृत गोरा-बादलकी वीरता पढ़कर दसवें दर्जेके एक विद्यार्थीने उन्हें भूषणके समान वीर-काव्यका रचयिता कवि कहा था। यह दोष उस विद्यार्थीका नहीं बल्कि संग्रह-कर्त्ता महाशयका ही है।

आजकल हिन्दी-साहित्यको छायावादकी मायाने अभि-भूत कर रक्खा है जिसके कारण संग्रहकर्त्ता लोग बड़े धड़ल्लेसे तथाकथित छायावादी कवियोंकी रचनाओंको बड़ी स्पृहाके साथ अपने संग्रहोंमें स्थान दिया करते हैं। पाठ्य-पुस्तकोंके लिये यह भी ऐबकी बात है। ऐसी कविताओंका सीधा सम्बन्ध दार्शनिकतासे होता है। दूसरे शब्दोंमें वे एक प्रकार-की साम्प्रदायिक कविताएँ होती हैं। साथ ही उनमें प्रत्यक्षवाद तथा लौकिक अनुभूतिका सर्वथा अभाव रहता है। अतः ऐसी कविताएँ स्कूलके बच्चोंके कामकी नहीं होतीं और इसीलिये शिक्षा-शास्त्र पाठ्य-पुस्तकोंमें ऐसी सामग्रीको स्थान देनेकी अनुज्ञा नहीं देता।

इसलिये पाठ्य-पुस्तकोंमें संगृहीत कविताएँ ऐसी होनी चाहिएँ जिनका अर्थ समझते ही विद्यार्थी उसे कण्ठस्थ करनेके लिये लालायित हो उठे। इस दृष्टिसे नीतिके दोहोंका संग्रह इनमें बड़ी सरलतासे दिया जा सकता है जो चरित्र-निर्माणमें सहायता देनेके साथ-साथ व्यवहार-पटुता भी

सिखाते हैं। विद्यार्थियोंके लिये ऐसी सूक्तियोंका संग्रह आवश्यक है जैसेः—

'खीरा मुखसों काटिए भरिए नमक बनाय।
रहिमन करुए मुखनको चहियत यही सजाय॥' (रहीम)

इसीके साथ कुछ वीरतापूर्ण ऐतिहासिक पद्योंका संग्रह भी विद्यार्थियोंको अधिक लाभ पहुँचा सकता है। फिरसे यह स्मरण रखना चाहिए कि इनमें भी कोई शब्द, वाक्य अथवा भाव ऐसा न हो जिससे किसी प्रकार भी वासनाओं अथवा काम-विषयक वस्तुओं अथवा भावोंका स्मरण हो। ऐसी बातें बहुत समझ-बूझकर बचानी चाहिएँ चाहे उनके हटानेसे अच्छे कवि अथवा लेखककी रचनासे हाथ ही क्यों न धोना पड़े।

पाठ्य-पुस्तकोंमें इस बातका भी ध्यान रक्खा जाना चाहिए कि उसमें दिए हुए पाठ उस श्रेणीके अन्य विषयोंसे सम्बद्ध हों। पाँचवीं कक्षामें भारतका भूगोल पढ़ाया जाता है किन्तु उसकी भाषाकी पाठ्य-पुस्तकमें इटलीके लोगोंके रहन-सहनका पाठ दिया जाता है। उक्त श्रेणीका बालक भारतीय महापुरुषोंका जीवनचरित इतिहासमें पढ़ता है किन्तु पाठ्य-पुस्तकमें उसे गैरीबाल्डीका जीवन-चरित पढ़नेको मिलता है। यदि यह पाठ सातवीं श्रेणीमें रक्खा जाता तो ठीक होता क्योंकि वह भूगोलके अध्यापकसे इटलीके विषयमें पढ़ चुका है। कहनेका तात्पर्य है कि पाठ्य-पुस्तकके रचयिताओंको पाठोंका चुनाव करते समय उस श्रेणीके अन्य पाठ्य-विषयोंका पूरा क्रम भी देख लेना

चाहिए और इस प्रकार पाठ-क्रम रखना चाहिए कि उनसे अन्य विषयोंके सम्यक् ज्ञानमें सहायता मिले।

संपादक महोदयको भाषा और विषयका सपादन करते समय यह देखना चाहिए कि प्रत्येक पाठ उतना ही बड़ा हो जितना चालीस मिनटोंमें पूरा पढ़ाया जा सके। यदि यह संभव न हो तो वह ऐसे भागोंमें विभक्त करे कि एक-एक भागके पढ़ानेमें चालीस मिनटोंसे अधिक समय न लगे।

विदेशी भाषाओंमें ऐसी पाठ्य-पुस्तकें बहुतायतसे मिलती हैं। वहाँके संपादक इस विषयमें बड़े सावधान रहते हैं। शिक्षा-शास्त्रीगण इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण देते हैं। उनका कहना है कि बहुत बड़े पाठको देखकर बालकका जी घबरा उठता है। रुचिकर सामग्री होते हुए भी पाठमें अरुचि उत्पन्न होती है। यदि पाठ छोटा होता है तो बालकको एक ऐसा अप्रकट संतोष होता है कि विषयकी दुरूहता भी उसे नहीं खलती। अतः प्रत्येक पाठका संपादन इस दृष्टिसे भी करना चाहिए।

संपादनके पश्चात् दूसरा महत्वपूर्ण कार्य्य है टिप्पणी, सूत्र, व्याख्या तथा अभ्यासार्थ प्रश्न देना। हिन्दीके विद्वान् संपादक जब मूल लेख, पाठांश या कविता लेते हैं तो प्रायः लेखक तथा कविका नाम और परिचय तो दे देते हैं किन्तु उस लेख अथवा कविताका पता नहीं देते अर्थात् अमुक कविता अमुक कविके किस ग्रन्थसे ली गई है। ऐसा न होनेसे पाठ्य-विषयका पूर्वापर संबन्ध नहीं स्पष्ट होता। बेचारा

अध्यापक संकटमें पड़ जाता है। कभी-कभी कवितामें ऐसे पद्य रक्खे जाते हैं जिनमें किसी विशेष नायिका, रस अथवा अलंकारकी व्यञ्जना होती है। यदि संपादक महोदय उसका ठीक पता न बतावें तो उस पद्यका अर्थ करना विद्वान् अध्यापकके लिये भी कठिन होगा। इसके अतिरिक्त पद्य अथवा लेखके बीचमें कुछ अपरिचित नाम तथा शब्द आ जाते हैं जो या तो विदेशी होते हैं या अप्रचलित। ऐसे सभी शब्दों तथा नामोंका पूरा विवरण पुस्तक या पाठके अन्तमें दे देना चाहिए।

अभ्यासार्थ प्रश्न ऐसे हों कि उनके द्वारा पाठका सारांश निकलवाया जा सके, पढ़े हुए पाठके ज्ञानका प्रयोग कराया जा सके तथा उसपर स्वतन्त्र विचार प्रकट करनेको उत्साह दिलाया जा सके। पदच्छेद, समास-विग्रह, पदान्वय इत्यादि व्याकरण-संबन्धी प्रश्नोंका बिलकुल समावेश नहीं होना चाहिए।

अब पुस्तकोंकी छपाईके विषयमें निर्देश करना शेष रह गया है। वैज्ञानिकोंने प्रयोग करके यह निश्चय किया है कि पाठ्य-पुस्तकोंका कागज पतला तथा चमकदार नहीं होना चाहिए तथा छापेके अक्षरोंमें पतले, छोटे तथा टेढ़े मुँहके अक्षरोंका प्रयोग कदापि नहीं होना चाहिए। जैसे—

कहना, सुनना, समझना,

आलंकारिक अक्षरोंका प्रयोग भी नहीं होना चाहिए। जैसे—

कमल गमला कमल

अक्षर काले तथा चौड़े मुँहके हों जो अधिक स्याही उठाते हों जैसे—

छाया

(७२ पौइंट, सिक्स लाइन पाइका)

कमल कमल कमल

६० पौइंट, फ़ाइव लाइन पाइका	४८ पौइंट, फ़ोर लाइन पाइका	३६ पौइंट, टू लाइन ग्रेट
कमल	कमल	कमल
२० पौइंट, वब्रिक ग्रेट प्राइमर	१६ पौइंट काला ग्रेट प्राइमर	१२ पौइंट, काला पाइका

ऐसे अक्षरोंसे आँखपर जोर नहीं पड़ता और दृष्टि-मंदताका दोष नहीं आ सकता।

बालकोंकी अवस्थाके क्रमसे निम्नलिखित विधान विज्ञान-सम्मत है:—

अवस्था	अक्षरोंके आकार	टाइपके नाम
३ से ४ वर्ष तक	वाद	सिक्स लाइन पाइका
५ से ६ वर्ष तक	कख	फ़ाइव लाइन पाइका
७ से ८ वर्ष तक	कमल	फ़ोर लाइन पाइका
९ से १० वर्ष तक	मालती	टू लाइन ग्रेट
११ से १२ वर्ष तक	जीवन	वक्षिक ग्रेट प्राइमर
१३ से १४ वर्ष तक	सारिका	काला ग्रेट प्राइमर
१५ से ऊपर	प्रकाश	काला पाइका

अक्षर १२ पौइंट पाइकासे कदापि छोटे न हों। इन छापे-के अक्षरोंके डौलके अतिरिक्त यह ध्यानमें रखना चाहिए कि १२ पौइंट काले पाइकामें छपे हुए दो शब्दोंके बीचमें कमसे कम $\frac{1}{8}$ इञ्चका अन्तर हो, अर्थात् इस प्रकार छपे—

'बात करना'

इस प्रकार नहीं—

'बात करना'

इसी प्रकार दो पंक्तियोंके बीचमें भी कमसे कम $\frac{1}{8}$ इञ्चका अन्तर हो, अर्थात् यों न छपे—

'सब कहते हैं हमारा देश सबसे सुन्दर है। इसमें संसारकी सभी वस्तुएँ प्राप्त होती हैं।'

वरन् इस प्रकार छपे—

सब कहते हैं हमारा देश सबसे सुन्दर है। इसमें संसारकी सभी वस्तुएँ प्राप्त होती हैं।

शब्दों तथा पंक्तियोंके बीचमें अक्षरोंके आकारके अनु-पातसे अन्तर भी बढ़ता जायगा अर्थात् जितना बड़ा अक्षर होगा उसी अनुपातमें उस अक्षरमें छपे हुए शब्दों तथा पंक्तियोंके बीचका अन्तर भी चौड़ा होता जायगा। इस व्याख्याके साथ पाठ्य-पुस्तकोंके निर्माण तथा छापनेका प्रकरण समाप्त होता है।

१४

शिक्षा-शास्त्रके कुछ सिद्धान्त और उनकी व्याख्या

पाठ्य-पुस्तकोंके द्वारा शिक्षा देनेका विचार करनेसे पूर्व शिक्षा-शास्त्रके कुछ सर्वमान्य सिद्धान्तोंकी व्याख्या करना हम आवश्यक समझते हैं क्योंकि उन्हीं सिद्धान्तोंके बलपर ही नवीन शिक्षा-प्रणालियाँ, पाठन-विधियाँ तथा शिक्षण-क्रमोंकी उत्पत्ति हुई है। किन्तु इन सिद्धान्तोंकी व्याख्या करनेसे पूर्व यह भी उचित है कि हम उन सिद्धान्तोंकी सर्वमान्यताका कारण भी दे दें और उनके मनोवैज्ञानिक आधारकी भी व्याख्या कर दें क्योंकि उनके कारण डाल्टन-प्रणाली, प्रयोग-प्रणाली (प्रोजेक्ट मेथड) मौन्तेसोरी-प्रणाली तथा बालोद्यान-प्रणाली (किण्डर-गार्टन) तथा भारतीय वर्धा-शिक्षा-योजनाका जन्म हुआ है जिनका उल्लेख हम यथास्थान करेंगे।

बालक कुछ माता-पिता तथा कुल-परम्पराके संस्कार लेकर उत्पन्न होता है। जिस प्रकारके वातावरण तथा जैसी संगतिमें उसका लालन-पालन होता है वैसे ही उसके आचरण बनते हैं। वह जैसे औरोंको चलते-फिरते, उठते-बैठते, बोलते-चालते, खाते-पीते, नहाते-धोते, सोते-लेटते, ओढ़ते-पहनते, हँसते-रोते, कूदते-फाँदते, तथा पढ़ते-लिखते देखता है वैसे ही वह भी आचरण करने लगता है। अनुकरण हमारी शिक्षाका मूलाधार है। बालकमें उत्साह छलका पड़ता है। उसके हाथ पैर कुछ करनेको व्याकुल रहते हैं। वे कोई ऐसा काम करना चाहते हैं जिसमें उनकी रुचि हो। जिसमें रुचि होगी उसीमें उनका मन लगेगा। जिसमें मन लगेगा उसीका ज्ञान बालकके मस्तिष्कमें दृढ़ होकर बैठेगा तथा जो कुछ उसके मस्तिष्कमें बैठेगा उसीके अनुकूल बालकका स्वभाव बनेगा, उसकी प्रवृत्ति सधेगी और उसका ज्ञान बढ़ेगा। ज्यों-ज्यों वह अपना ज्ञान संचित करता है त्यों-त्यों इसी संचित ज्ञानके आधार पर वह नया ज्ञान लेता चलता है। अतः बालककी रुचि ही सबसे प्रधान वस्तु हुई। अनुभवसे जाना गया है कि बालकोंको रंगोंसे, रँगीली वस्तुओंसे बड़ा प्रेम होता है। उन्हें सुन्दर वस्तुएँ भाती हैं और ऐसी बातोंमें रुचि होती है जिसमें उन्हें कूदने-फाँदने और चिल्लानेका अवसर मिले। संगीतसे उन्हें स्वाभाविक प्रेम होता है। गतिशील कार्योंमें उनकी रुचि होती है। वे जादूगर, बाजीगर, नट आदिके करतब बड़े चावसे देखते हैं। उन्हें अचरज-भरे करतबोंमें अधिक कुतूहल होता है। इसीलिये वे कहानियाँ बड़े

चावसे सुनते हैं, उन्हें मेले-तमाशे अच्छे लगते हैं। वहाँ उन्हें खाने-पीनेकी वस्तुएँ, खेल-खिलौने, चरखी-घुमनी सभी रुचिकर वस्तुएँ मिल जाती हैं। बालकोंको दबकर, परतन्त्रतामें रहना अच्छा नहीं लगता। उन्हें स्वतन्त्रता चाहिए। रटनेमें उनकी बिलकुल रुचि नहीं। अतः शिक्षा-शास्त्रियोंने पुरानी डंडा-प्रणाली छोड़ी, बालकोंका मन समझा और शिक्षा-प्रणालीमें बालकोंके लिये रुचिकर वस्तुओं तथा क्रियाओंका समावेश करके उन्हें यथा-संभव स्वतन्त्र रूपसे विकसित होनेकी सुविधा दे दी।

उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक विवेचन करनेके पश्चात् अब हम शिक्षा-प्रणालीके दो विरोधी महत्त्वपूर्ण विधानों पर विचार करते हैं। हम दो प्रकारसे शिक्षा दे सकते हैं (१) विश्लेषण-प्रणालीसे तथा (२) संश्लेषण-प्रणालीसे। इन्हीं दोनोंको हम विषय-भेदसे क्रमशः परिणाम-प्रणाली तथा सिद्धान्त-प्रणाली भी कहते हैं।

१—विश्लेषण-प्रणालीमें पूर्ण वस्तुसे प्रारम्भ करते हैं और फिर उसके विभिन्न तत्त्वों तथा भागोंका अध्ययन और विवेचन करते हैं। यदि हमें इस प्रणालीसे भूगोल पढ़ानी हो तो पहले हम समूची पृथ्वीको लेंगे, तथा भूमध्यरेखा, महाद्वीप, महासागर इत्यादि बतावेंगे और उसके पश्चात् पृथ्वीके अन्य विभागोंका अलग-अलग ज्ञान देंगे। भाषा-शिक्षामें ही लीजिए। यदि हमें रामायण पढ़ानी हो तो इस प्रणालीके अनुसार पहले हम रामायणकी कथा, उसके मुख्य चरित्र, भाषाकी विशेषताएँ, रस अलंकार आदि बतलाकर तब एक-एक कांड

पढ़ावेंगे। इसका प्रयोग हम वहाँ करते हैं जहाँ कई भागोंसे बनी हुई एक पूर्ण वस्तु पढ़ानी हो जैसे कविता, गद्य, रचना आदि।

जैसे विश्लेषण-प्रणालीमें एक पूर्ण पाठ्य सामग्रीसे प्रारम्भ करते हैं वैसे ही सिद्धान्त-प्रणालीमें सिद्धान्त या नियम बता देते हैं और फिर विद्यार्थी उन नियमोंकी व्यापकताको अपने अनुभव तथा अन्य पाठ्य सामग्रीके आधारपर सिद्ध करता है। एक व्याकरणका नियम लीजिए—'संज्ञा-विशेषण वह शब्द है जो किसी संज्ञा-शब्दकी विशेषता बताता हो'। इस व्याकरणके नियमको विद्यार्थी रट लेता है और फिर 'भला बालक, सुन्दर सुमन, मनोहर वेश, भव्य भवन, आकर्षक रूप, पावन चरित्र' इत्यादि उदाहरणों द्वारा वह उपर्युक्त नियमका प्रयोग समझ लेता है कि 'भला, सुन्दर, मनोहर, भव्य, आकर्षक तथा पावन' शब्द संज्ञा-विशेषण हैं क्योंकि ये क्रमशः 'बालक, सुमन, वेश, भवन, रूप तथा चरित्र' शब्दोंकी विशेषता बताते हैं। इस प्रणालीका प्रयोग वहाँ होता है जहाँ हमें सिद्धान्तों या नियमोंसे काम पड़ता है जैसे व्याकरणकी शिक्षामें।

२—संश्लेषण-प्रणालीमें हम तत्त्वों अथवा भागोंसे प्रारंभ करके पूर्णकी ओर बढ़ते हैं। जैसे अक्षर-रचनाकी शिक्षा देते समय पहले खड़ी रेखा, पड़ी रेखा, आड़ी रेखा, तथा गोल रेखाएँ सिखाई जायँ और इनका अभ्यास कराकर इन्हें मिलाकर 'अ' का स्वरूप सिखाया जाय। इस प्रणालीका प्रयोग तत्त्वोंसे बनी हुई वस्तुओंकी शिक्षामें होता है।

जिस प्रकार संश्लेषण-प्रणालीमें तत्त्वों तथा भागोंसे प्रारंभ करके फिर पूर्ण वस्तुकी शिक्षा दी जाती है उसी प्रकार परिणाम-प्रणालीमें उदाहरणों तथा अनुभूत प्रयोगोंसे आरंभ करते हैं और उसके आधारपर एक व्यापक नियम निकलवा लेते हैं। व्याकरण-शिक्षामें हम सीधे नियम न बतलावें वरन् बालकोंके सम्मुख यह उदाहरण रक्खें—

राम अयोध्यासे रथपर चढ़कर चले।

इस वाक्यमें राम एक व्यक्ति-विशेषका नाम है, अयोध्या एक स्थान-विशेषका नाम है, रथ एक वस्तु-विशेषका नाम है। ये सब संज्ञाएँ हैं। अतः यह नियम निकला कि किसी व्यक्ति, स्थान या वस्तुके नामवाची शब्दको संज्ञा कहते हैं। इस प्रणालीका प्रयोग सार्वभौम सिद्धान्तों या व्यापक नियमोंकी शिक्षाके लिये होता है।

मनोवैज्ञानिक विवेचनको दृष्टिमें रखकर यह विचार करना कठिन नहीं है कि उपर्युक्त दोनों प्रणालियोंमेंसे किसका ग्रहण और किसका त्याग करना चाहिए। अध्यापकका यह कर्त्तव्य है कि वह विद्यार्थीका ज्ञान अपने प्रभावसे नहीं वरन् ऐसी विधिसे बढ़ावे कि बालक रुचिसे, कुतूहल और उत्साहसे तथा स्फूर्त्तिसे उसे ग्रहण करनेकी आकांक्षा करे। अतः अध्यापकको पाठ-ज्ञान कराते समय निम्नलिखित क्रमसे चलना चाहिए—

१. बालकके प्रस्तुत ज्ञानको परखो।

२. पठन, प्रयोग तथा अनुभवके द्वारा इस ज्ञानको उचित रूपसे फैलनेका अवकाश दो।

३. इस अर्जित ज्ञानको क्रमशः नियमित और व्यवस्थित करो।

उपर्युक्त क्रमके आधार पर ही शिक्षा-शास्त्रियोंने ये सिद्धान्त-सूत्र बना लिए हैं—

१. व्यक्तिगत अनुभवसे व्यापक अनुभवकी ओर चलो।
२. प्रकटसे अप्रकटकी ओर चलो।
३. उदाहरणसे नियमकी ओर चलो।
४. ज्ञातसे अज्ञातकी ओर चलो।
५. साधारणसे असाधारणकी ओर चलो।
६. अनिश्चितसे निश्चितकी ओर चलो।
७. अनुभूतसे युक्तियुक्तकी ओर चलो।

१. व्यक्तिगत अनुभवसे व्यापक अनुभवकी ओर—हमारे व्यक्तिगत अनुभवका आधार हमारी इन्द्रियाँ हैं। बालक एक वस्तुको देखता है, स्पर्श करता है, काममें लाता है, चखता है, सूँघता है या उसकी ध्वनि सुनता है और इस प्रकार उस वस्तुके विषयमें उसके मनमें अनेक भाव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकारकी शिक्षा विधिको अनुभव-विधि कहते हैं। किण्डरगार्टन-प्रणालीमें इसीकी प्रधानता है। किन्तु यह विधि यहीं समाप्त न करके कुछ और आगे बढ़ाकर अन्य पाठ्य-विषयोंकी शिक्षामें भी प्रयुक्त करनी चाहिए। रबड़की गेंदको बालक दीवारपर मारता है। वह गद्दा खाकर उलटी लौट आती है। वह गेंदको पृथ्वीपर पटकता है तब भी वह

गद्दा खाकर ऊपर उछल आती है। किन्तु जब वह पानीके कंडालमें फेंकता है तो वह ऊपर नहीं उठती, धुनी हुई रूई पर पटकता है तो नहीं उछलती, घासके ढेर पर मारता है तो वह नहीं लौटती। इस व्यक्तिगत अनुभवसे वह यह व्यापक परिणाम निकालता है कि रबड़की गेंद ठोस वस्तुओं पर पटकनेसे गद्दा खाती है।

२. प्रकटसे अप्रकटकी ओर—यह कोई नया सिद्धान्त नहीं है। उपर्युक्त सिद्धान्तका ही दूसरा रूप है। एक उदाहरण लीजिए। दो बाँस और तीन बाँस मिलकर पाँच बाँस होते हैं, दो कुत्ते और तीन कुत्ते मिलकर पाँच कुत्ते होते हैं। बालक यह देखता है कि प्रकट दो वस्तुएँ प्रकट तीन वस्तुओंके साथ मिलकर पाँच वस्तुएँ हो जाती हैं। इन प्रकट उदाहरणोंसे वह यह अप्रकट नियम निकाल लेता है कि दो और तीन मिलकर पाँच होते हैं।

३. उदाहरणसे नियमकी ओर—यह सिद्धान्त भी उपर्युक्त दो सिद्धान्तोंके ही अन्तर्भुक्त है। नियम बतानेसे पहले उदाहरण देने चाहिएँ अर्थात् कई उदाहरण प्रस्तुत करके विद्यार्थियोंसे ही व्यापक नियम निकलवाना चाहिए। उदाहरण लीजिए—

१. कुत्ता भौंकता है।

२. चिड़िया चहचहाती है।

३. गाय रँभाती है।

ऊपर दिए हुए वाक्योंमें से एक-एकको लेकर भौंकने, चहकने तथा रँभानेवालोंका ज्ञान प्रश्नों द्वारा कराकर यह

नियम निकलवाया जा सकता है कि ये कुछ कार्य्य करते हैं अतः ऐसे शब्द कर्त्ता कहलाते हैं।

४. ज्ञातसे अज्ञातकी ओर—बच्चोंका ज्ञान धुँधला, अधूरा तथा अक्रम होता है। अतः अध्यापकका यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह यह जान ले कि प्रस्तुत विषयका बालकोंको कितना ज्ञान है। इसके पश्चात् युक्ति तथा तर्क द्वारा अज्ञात सत्यको ज्ञात कराया जा सकता है। बच्चोंने देखा है कि पतीलीका ढकना दाल पकते समय हिलता है और ऊपर-नीचे होता है। उसीके आधार पर बताया जा सकता है कि प्रबल भापके सहारे रेलका अंजन चलता है।

५. साधारणसे असाधारणकी ओर—बच्चोंके नित्यप्रतिके जीवनके अनुभवोंसे प्रारम्भ करके ऐसे तथ्य तक पहुँचाना जो असाधारण हो। संस्कृतके पण्डितों, विशेषतः नैयायिकोंके घट-पट इसके उदाहरण हैं। बालक यह जानता है कि घड़ेको कुम्हारने बनाया है, कपड़ेको जुलाहेने बनाया है। इसीके आधार पर उसे यह असाधारण तथ्य बताया जा सकता है कि इस संसारको भी किसीने बनाया है।

६. अनिश्चितसे निश्चितकी ओर—हम ऊपर कह आए हैं कि बच्चेका ज्ञान अधकचरा होता है। वह अपने कुत्तेको एक खेलकी सामग्री मात्र समझता है। अनेक प्रकारके प्रयोगों, कथाओं, तथा उदाहरणोंके द्वारा अध्यापक उस कुत्तेके स्वभाव, उसकी शक्ति, उसकी आवश्यकता इत्यादिके विषयमें ज्ञान देकर कुत्तेके विषयमें बालकके अनिश्चित ज्ञानको पक्का कर देता है।

७. अनुभूतसे युक्तियुक्तकी ओर—अनुभूत ज्ञान वह है जो हमारे अनुभवके फलस्वरूप हमें प्राप्त हुआ है। युक्तियुक्त वह है जो युक्तिसंगत हो अर्थात् हमारे अनुभूत ज्ञानके वैज्ञानिक विवेचन द्वारा सिद्ध हो गया हो। बालक देखता है कि पत्ते नीचे गिरते हैं, फल नीचे गिरते हैं। प्रत्येक वस्तु नीचे ही गिरती है किन्तु वह गिरनेका कारण नहीं बता सकता। गुरुत्वाकर्षणका सिद्धान्त जान लेने पर वह प्रत्येक वस्तुके नीचे गिरनेका कारण भी बता सकता है। अब उसका अनुभव युक्तियुक्त हो गया।

उपर्युक्त सिद्धान्त-सूत्रोंका मूल तत्त्व यह है कि बालकके प्रस्तुत ज्ञान तथा उसके मानसिक विकासके अनुसार उसको नया ज्ञान दिया जाय। उसके अनुभवोंका पूर्ण उपयोग करके उसीको नवीन ज्ञान देनेकी आधार-भूमि बनाई जाय। बालकके मनके अनुकूल अध्यापक चले, अपने मनके अनुकूल नहीं।

उपर्युक्त सिद्धान्तोंमें एक और भी ध्वनि है जिसका स्पष्टीकरण हो जाना चाहिए। जब हमारे हाथमें पाठ्यपुस्तक आती है तो हम पहले पाठसे आरम्भ करते हैं और क्रमशः पढ़ाने लगते हैं। हम पीछे कह चुके हैं कि पाठ्य-पुस्तकोंका संकलन करनेवाले विद्वानोंको अधिक मनोवैज्ञानिक विचार करनेका कम अवसर रहता है इसलिये उनके संकलित पाठोंमें कोई मनोवैज्ञानिक क्रम नहीं रहता। इसलिये अध्यापकको सावधान होकर वर्षके

आरम्भमें ही यह निश्चय कर लेना चाहिए कि वह किस क्रमसे विभिन्न पाठोंको पढ़ावेंगे। हमारी पाठ्यपुस्तकोंमें वर्षा-वर्णन होता है, किन्तु हम उसे पढ़ाते हैं गर्मीके दिनोंमें, शरद्-वर्णनको हम पढ़ाते हैं वर्षा ऋतुमें। इसी प्रकार जिन दिनों कक्षामें भूगोलके घण्टेमें चीन पढ़ाया जाता है उन दिनों हम अपनी पाठ्य-पुस्तकोंमें अरब-वासियोंकी जीवन-चर्य्या पढ़ाते हैं। अतः हमें पाठोंका क्रम निर्धारित करते समय इन बातोंका ध्यान रखना चाहिए—

१. पाठोंका क्रम समयके अनुकूल हो।

२. अन्य पाठ्य-विषयोंसे उचित रूपसे सम्बद्ध हो।

३. बालकोंकी मानसिक अवस्था तथा रुचिके अनुकूल हो।

४. भाषाके क्रमिक विकासके अनुसार हो।

५. सरल तथा मनोरंजक पाठोंसे प्रारम्भ करके दुरूह तथा नीरस पाठोंकी ओर प्रवृत्त हो।

१५

पाठ्य-पुस्तकों द्वारा शिक्षाका विधान

आजकल पाठ्य-पुस्तकें हमारी संपूर्ण भाषा-शिक्षाकी केन्द्र बन गई हैं। हम अपनी संपूर्ण शक्ति केवल पाठ्य-पुस्तक-को 'भली प्रकार' पढ़ानेमें लगा देते हैं, क्योंकि उसीमें परीक्षा होती है, पाठोंके सारांश पूछे जाते हैं, चरित्र-चित्रण कराया जाता है और व्याख्या, अर्थ तथा भावार्थ लिखनेको

दिए जाते हैं। परीक्षक लोग बल, छल तथा कौशलसे यह जाँचना चाहते हैं कि विद्यार्थियोंने अपनी पाठ्य-पुस्तकको नीचे-ऊपर, दाएँ-बाएँ, भीतर-बाहरसे भली प्रकार घोंटकर पी लिया है या नहीं। सुन्दर अर्थ देखकर, पाठ्य-पुस्तकमें आई हुई कथाके नायकका विधिवत् चरित्र-चित्रण देखकर परीक्षककी बाछें खिल जाती हैं। उसकी समझमें विद्यार्थी बड़ा योग्य है। उसके अध्यापक भी उसकी सफलताको अपनी सफलता समझते हैं। बेचारे अध्यापक अपनी रोटीकी रक्षाके लिये, अपने स्वामियों—प्रधानाध्यापकों, स्कूलके अधिकारियों, इन्स्पेक्टरोंको प्रसन्न करनेके लिये पूछे जाने योग्य सभी प्रश्नोंका अनुमान करके विद्यार्थियोंको उसी ढंगसे पढ़ाते हैं। इसका दोष शिक्षाप्रणाली तथा परीक्षा-प्रणालीके सिर अवश्य है। पर हम और आप दोनों अपनेको इस दोषसे मुक्त कहनेकी ढिठाई नहीं कर सकते।

पाठ्य-पुस्तकोंमें गद्य और पद्य दोनोंका समावेश होता है। इस प्रकरणमें हम केवल पाठ्य-पुस्तकोंके गद्य भागके स्वरूप, उसके पढ़ानेके उद्देश्य तथा पाठन-विधियोंपर ही विचार करेंगे।

पाठ्य-पुस्तकोंमें प्रायः नौ प्रकारके गद्य-पाठ रहते हैं—

१. कथा-कहानियाँ।

२. जीवनचरित तथा ऐतिहासिक घटनाएँ।

३. आविष्कार तथा खोज।

४. नाटक तथा संवाद।

५. वर्णन, यात्रा-कथाएँ, प्राकृतिक दृश्य।

६. विचारात्मक तथा नैतिक निबन्ध।
७. जीव-जन्तु, पेड़-पौधे।
८ वैज्ञानिक कथाएँ तथा अन्य व्यावहारिक ज्ञान।
९. पत्र।

नाटक तथा संवादको छोड़कर उपर्युक्त प्रकारके गद्य-पाठोंको पढ़ानेके समष्टि रूपसे निम्नलिखित उद्देश्य हैं—

१. विद्यार्थियोंको विविध विषयोंका ज्ञान हो, अर्थात् वे बहुज्ञ बनें।
२. उनके सूक्ति-भाण्डार तथा शब्द-भाण्डारमें वृद्धि हो।
३. उन्हें भाषा तथा वर्णन-शैलियोंसे परिचय प्राप्त हो।
४. वे भली प्रकार पाठका भाव तथा अर्थ समझ जायँ।
५. वे समझे हुए भावको अपने ढंगसे अपने शब्दोंमें व्यक्त कर सकें।
६. वे लेखकके भावके अनुसार पढ़ सकें।
७. वे भाषा तथा भावोंकी सुन्दरताका आनन्द ले सकें।
८. वे अनुकरणीय भाषा-शैलियोंका प्रयोग कर सकें।
९. उनकी कल्पना-शक्ति बढ़े।
१०. उनके चरित्र-निर्माणमें सहायता मिले अथवा उन्हें व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त हो।
११. उनकी क्रिया-शक्तिको सचेष्ट करे।

उपर्युक्त साधारण उद्देश्य तो सभी प्रकारके गद्य-पाठोंके शिक्षणमें होते हैं किन्तु पाठ्य-विषयके अनुसार उनके शिक्षणके मुख्य उद्देश्य विभिन्न हो जाते हैं। नीचे दी हुई तालिकामें हम पाठ्य-विषय और उनके विशेष उद्देश्योंका ब्यौरा देते हैं।

पाठ्य-विषय	उद्देश्य
१. कथा-कहानियाँ	१. शब्द तथा सूक्ति-भाण्डारकी वृद्धि । २. वर्णन तथा भाषा-शैलीसे परिचय । ३. भाव समझना । ४. भाव-सौन्दर्य परखना । ५ कल्पना-शक्तिको उकसाना ।
२. जीवनचरित तथा ऐतिहासिक घटनाएँ	१. ज्ञान बढ़ाना । २. चरित्र-निर्माणमें योग देना ।
३. आविष्कार तथा खोज	१. ज्ञान बढ़ाना । २. साहस बढ़ाना । ३. कल्पना-शक्ति बढ़ाना ।
४. वर्णन, यात्रा-कथाएँ तथा प्राकृतिक दृश्य	१. प्रकृति-प्रेम उत्पन्न करना । २. वर्णन तथा भाषा-शैलियोंका ज्ञान । ३. ज्ञान-वृद्धि । ४. कल्पना-शक्तिको जागरित करना ।
५. विचारात्मक तथा नैतिक निबन्ध	१. तर्क-शक्ति तथा विवेचनात्मक बुद्धिका विकास करना । २. चरित्र-निर्माणमें योग देना । ३. भाव व्यक्त करनेकी विविध शैलियोंका ज्ञान ।

पाठ्य-विषय	उद्देश्य
६. जीव-जन्तु, पेड़-पौधोंका वर्णन	१. अपने चारों ओरके जीवोंसे प्रेम और सद्भाव उत्पन्न करना । २. विश्व-बन्धुत्वकी भावना बढ़ाना । ३. परमेश्वरकी महत्ताका प्रत्यक्ष ज्ञान कराना । ४. मानव-जीवनका उनसे अविच्छेद्य सम्बन्ध दिखलाना ।
७. वैज्ञानिक कथाएँ	१. संसारकी प्रगतिसे परिचय करना । २. वैज्ञानिक आविष्कारोंसे लाभ और हानि बतलाना ।
८. पत्र	१ सामाजिक जीवनमें कुशलता, आचार तथा शील सिखाना । २ व्यवहार-कुशलता सिखाना ।

ऊपर दिए हुए व्यापक उद्देश्य तथा मुख्य उद्देश्य इतने स्पष्ट हैं कि इनकी व्याख्या करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

उद्देश्योंका विधान हो जाने पर उनकी पाठ्य-विधिका भी निरूपण करना आवश्यक है। पिछले प्रकरणमें हमने मनोवैज्ञानिक विचार करके कुछ शिक्षा-शास्त्रके व्यापक सिद्धान्तोंका लेखा दिया था। साथ ही यह भी बताया था कि अध्यापकको किस क्रमसे पाठ चलाने चाहिएँ। उन्हीं

सिद्धान्तोंके आधार पर आजकलके शिक्षा-शास्त्री लोग हरबार्ट-पाठन-प्रणालीको पालन करनेका आदेश देते हैं।

हरबार्टके मतानुसार मनमें यह शक्ति होती है कि विभिन्न इन्द्रियानुभवोंके संयोगमें आकर उसकी शक्ति बढ़ती है अर्थात् 'विचारकी परिधि निरन्तर बढ़ती चली जाती है'। अध्यापकके पास पहुँचनेके समयतक विद्यार्थी बहुत सा अनुभव संचित कर लेता है। अतः हरबार्ट कहता है कि अध्यापकका कर्त्तव्य है इस संचित अनुभवमेंसे 'ज्ञान' उत्पन्न करे और नवीन अनुभवोंका संयोग देकर 'सहयोग' उपजावे। हरबार्टके अनुसार बाह्य अनुभव प्राप्त करनेके अतिरिक्त मनमें कोई दूसरी शक्ति नहीं है इसलिये मनको नियमित, शिक्षित तथा उन्नत करनेकी बात व्यर्थ है। उसके अनुसार तो 'संचित अनुभवों'को परिपक्व करना ही शिक्षाका उद्देश्य है। हम यहाँ उसके 'संचित अनुभव-सिद्धान्त' की व्याख्या करने नहीं बैठे हैं और न हमारा यह उद्देश्य ही है। हम उसके दार्शनिक पक्षसे सर्वथा सहमत न होते हुए भी उसके सिद्धान्तोंकी उपेक्षा नहीं कर सकते। वे ये हैं—

१. केवल अर्जनके द्वारा ही शिक्षा देनेकी अत्यन्त आवश्यकता है अर्थात् इस प्रकार शिक्षा दी जाय कि जो अनुभव होता चले उसे बालक अपनाता चले।

२. बालकके अर्जित ज्ञानका निरन्तर प्रयोग हो।

३. शिक्षाके समय पाठ्य-सामग्री पर ध्यान देने, मनन करने, उससे पूर्व-संचित ज्ञानसे संबद्ध करने, सक्रिय होने तथा उसको दुहरानेके लिये बालकको प्रेरित करना चाहिए।

इन सिद्धान्तोंके आधार पर ही 'हरबार्टीय पंचाङ्ग पदों' का विधान हुआ है। वे हैं—

१. प्रस्तावना, २. विषय-प्रवेश, ३. आत्मीकरण अथवा तुलना, ४. सिद्धान्त-निरूपण, ५. प्रयोग।

१. प्रस्तावनामें ऐसे एक या दो प्रश्न किए जाते हैं, चित्र या पदार्थ दिखाए जाते हैं, कथा कही जाती है अथवा कोई ऐसा साधन उपस्थित किया जाता है कि बालकोंका मन पिछले घंटेमें पढ़े हुए पाठ्य-विषयसे तथा अन्य बाह्य विचारोंसे हटकर पाठ्य-विषयकी ओर एकाग्र हो। इस समय यह स्मरण रखना चाहिए कि ऐसे प्रश्न न हों या ऐसी बात न हो जो पाठ्य-विषयमें आए हुए ज्ञानका आभास दे। यदि हमें 'ताजमहल'का पाठ पढ़ाना हो तो हम प्रस्तावनामें निम्नलिखित साधनोंका प्रयोग कर सकते हैं।

क. ताजमहलका चित्र या उसकी मूर्त्ति दिखलाकर।

ख. प्रश्न द्वारा—

भारतका सबसे सुन्दर भवन कौन सा है। (यहाँ हम यह नहीं पूछ सकते कि ताजमहल किसने बनवाया है क्योंकि यह बात तो बालकको अपने पाठमें पढ़नी ही है।)

ग. श्यामपट्टपर मानचित्र खींचकर।

घ. इतिहाससे शाहजहाँका जीवनवृत्त पढ़कर या सुनाकर या बालकोंसे कहलवाकर।

२—विषय-प्रवेशमें मुख्य पाठ्य-विषयको भावके अनुसार अन्वितियों (भागों) में बाँट लेना चाहिए और एक

अन्विति बालकोंके सामने निम्नलिखित क्रमसे प्रस्तुत करनी चाहिए—

क. सस्वर पाठ अथवा मौन पाठ।

ख. एक अन्विति पर भाव-परीक्षक प्रश्न।

क. सस्वर पाठके गुण-दोषोंका तथा उसकी विधियोंका हम पीछे विस्तृत वर्णन कर आए हैं। यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि पहले अध्यापकको आदर्श पाठ करके दिखलाना चाहिए तदनन्तर छात्रोंसे अलग अलग पढ़वाना चाहिए। यह पाठ ऐसा भावपूर्ण हो कि पाठ्य-विषय, शब्दोंके अर्थ तथा भाव स्पष्ट हो जायँ। उचित तथा ललित अंग-संचालन तथा स्वरके उतार-चढ़ावसे यह कार्य बड़ी सरलतासे किया जा सकता है। पढ़ने पर पाठकी बहुत कुछ सफलता अवलम्बित है और प्रारंभिक कक्षाओंसे लेकर माध्यमिक कक्षाओं तक सस्वर पढ़ानेका ही प्रयोग कराना चाहिए और सच पूछिए तो सस्वर पाठके द्वारा ही प्रारम्भिक कक्षाओंमें ही छात्र भावपूर्वक पढ़ना सीख सकते हैं।

विद्वानोंका कहना है कि कक्षामें जिस समय सस्वर पाठ होता है उस समय एक विद्यार्थी पढ़ता है, शेष विद्यार्थी अपनी पोथियोंमें दृष्टि गड़ाए रहते हैं। किन्तु वे ध्यानपूर्वक पढ़ते भी हैं या नहीं इसका निर्णय नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि उनसे पठित अंश पर प्रश्न पूछकर यह बात जानी जा सकती है तो शिक्षा-शास्त्री कहते हैं कि यदि ऐसा हो तब तो वे इसे स्वरुचिसे नहीं वरन् पूछे जानेके भय तथा शंकासे पढ़ते हैं। अतः यह आवश्यक है कि उन्हें स्वतः

पढ़नेको कहा जाय। किन्तु वे सभी यदि उच्च स्वरसे पढ़ने लगेंगे तब तो कक्षा एक सट्टी बन जायगी। अतः सब यदि अपनी वाणीके बदले अपने नेत्रोंसे पढ़ें तो अधिक लाभ होगा। इस प्रणालीसे समयकी बचत होती है क्योंकि उच्चारण, स्वर, स्वराघात इत्यादि ठीक करानेमें जो समय लगता है वह इसमें नहीं लगेगा। ज्यों ही छात्रोंने एक अन्विति या एक अंश पढ़ा त्यों ही अध्यापक उनसे प्रश्न पूछना आरम्भ कर दे। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि इस प्रणालीसे समय तो अवश्य बचता है किन्तु सस्वर पाठसे भावोंका जो स्पष्टीकरण हो जाता है वह इससे नहीं हो पाता। अतः मौन पाठका प्रयोग माध्यमिक कक्षाओंसे ऊपर ही करना चाहिए क्योंकि उस सयम तक विद्यार्थी शुद्ध उच्चारणमें अभ्यस्त हो चुकते हैं।

ख. पाठ समाप्त होनेके उपरान्त कुछ भाव-परीक्षा कर लेनी चाहिए अर्थात् एक या दो ऐसे प्रश्न करने चाहिएँ, जिनके उत्तरमें पठित अंशके भाव आ जायँ।

३. आत्मीकरणमें विद्यार्थीके अनुभूत अथवा संचित ज्ञानसे पाठ्य ज्ञानकी तुलना कराकर उसे अपनानेमें सहायता देनेके लिये पाठ्य विषयकी विस्तृत व्याख्या तथा उसका विचार-विश्लेषण किया जाता है। कुछ विद्वानोंका कथन है कि कठिन शब्दों तथा वाक्योंका अर्थ पहले श्यामपट्ट पर छात्रोंकी सहायतासे लिख दिया जाय और उसके बाद पठन हो किन्तु यह प्रणाली इसलिये निरर्थक और त्याज्य है कि मूल पाठको छोड़कर बेसिर-पैरके शब्द

और वाक्य क्यों श्यामपट्ट पर लिखे जायँ। फिर हम यह कल्पना ही कैसे कर सकते हैं कि अमुक शब्द या वाक्य छात्र न जानते होंगे। अतः उचित यही है कि जैसे जैसे बाधा या कठिनता उपस्थित हो वैसे ही वैसे उसका निराकरण भी किया जाय। विस्तृत व्याख्यामें कठिन शब्दों, उक्तियों, वाक्यों तथा भावोंका स्पष्टीकरण किया जाता है और यहीं पर निम्नलिखित विधियोंके द्वारा विद्यार्थी अपने संचित ज्ञानके आधार पर नवीन ज्ञानको अपना लेता है—

१. वस्तु प्रस्तुत करके—जैसे कलम, आम, अंजीर इत्यादि।
२. चित्र, मानचित्र, अथवा मूर्त्ति प्रस्तुत करके—जैसे शिवाजी, भारत या बुद्ध आदि की।
३. श्यामपट्ट पर रेखाचित्र बना करके—जैसे त्रिकोण, वृत्त, वीणा, कँगारू इत्यादि।
४. प्रश्नों द्वारा।
५. तुलना द्वारा—जैसे गौ सौम्य जानवर है, सिंह भयानक।
६. उदाहरण द्वारा—जैसे 'परोपकार' शब्दका अर्थ समझानेके लिये रानाडे या मालवीयजीका उदाहरण देकर समझाना।
७. आधार द्वारा—जैसे 'बलि-बामनको ब्यौंत सुनि' पढ़ानेके लिये वामनावतारकी कथाका आधार बताना।
८. अर्थ द्वारा—जैसे उन्मत्त = पागल या मतवाला।
९. व्युत्पत्ति द्वारा—जैसे रावणारि = रावण + अरि अर्थात् रावणके शत्रु राम।
१०. व्याख्या द्वारा—जैसे 'आज गांडीव सो गया है' इसमें

आजकी दशा और अर्जुनके गांडीवके समयकी दशा दिखलाकर अर्थ समझाना कि हम शक्तिहीन हो गए हैं।

११. प्रयोग द्वारा—जैसे केमरामें चित्र लेनेकी क्रिया दिखलाकर वह पाठ पढ़ाना।

१२. कल्पनाको उद्बोधित करके—जैसे वायुयानमें बैठकर प्रयागमें गंगा-यमुना-संगमके सैरका स्मरण दिलाकर।

१३. अभिनय अथवा अंग-सञ्चालन द्वारा—जैसे नयन रिसौहैं, चकित होना इत्यादिका अभिनय करके।

१४. वाक्य-विच्छेद करके। जब गुम्फित वाक्य हो तो उसे कई भागोंमें बाँटकर स्पष्ट करना।

१५. कथा द्वारा—जैसे 'भारतकी तपस्या पार्वती-तपस्या हो रही है।' इस वाक्यको स्पष्ट करनेके लिये पार्वती-तपस्याकी कठोरता बताना।

यह स्मरण रखना चाहिए कि—

(क) कक्षामें जीवित जानवर बन्दर, बिल्ली, साँप चूहा आदि प्राप्य होनेपर भी नहीं लाने चाहिएँ क्योंकि वे या तो विद्यार्थियोंको डरा देंगे या इतना विनोद उत्पन्न करेंगे कि छात्रोंका मन उन्हींमें लग जायगा, वे पढ़ न सकेंगे।

(ख) अङ्ग-सञ्चालन तथा अभिनय ललित, उचित तथा आवश्यक होना चाहिए। असुन्दर, अनुचित तथा अनावश्यक अङ्ग-सञ्चालन तथा अभिनय नहीं करने चाहिएँ, जैसे खुजलाना, थिरकना, उँगली चमकाना, ठठाकर हँसना इत्यादि।

(ग) भयानक पदार्थोंका प्रयोग या प्रदर्शन कक्षामें नहीं करना चाहिए, जैसे बन्दूक, विस्फोट-सामग्री, विष इत्यादि।

(घ) प्रश्न सरल, सुबोध, कल्पनाको बढ़ानेवाले, विचार-विवर्द्धक तथा स्पष्ट हों और मधुरताके साथ पूछे जायँ।

कुछ लोग प्रारंभिक कक्षाओंमें विस्तृत व्याख्या करते समय मौखिक प्रणालीका प्रयोग करनेकी सलाह देते हैं अतः उसका सदुपयोग करनेके लिये उसका ब्यौरा देना भी अप्रासंगिक न होगा।

मौखिक-प्रणाली द्वारा भाषा-शिक्षा कई विधियोंसे दी जा सकती है। वे विधियाँ हैं—व्यवस्था-विधि, प्रश्नोत्तर-विधि, संवाद-विधि, तर्क-विधि तथा व्याख्यान-विधि। व्यवस्था-विधिमें अध्यापक समूचा ज्ञान अपने मुखसे बालकोंको दे देता है और वे गूँगे बैठे रहते हैं। यह स्पष्टतः अवैज्ञानिक तथा त्याज्य विधि है। दूसरी प्रश्नोत्तर-विधि सर्वश्रेष्ठ विधि है। इसमें सचेष्टता भी होती है, एकाग्रता भी रहती है और विद्यार्थियोंकी उत्सुकता भी बढ़ती है। इसकी व्याख्या हम पीछे रचना-शिक्षामें कर आए हैं। तीसरी संवाद-विधि भी वही है जो ऊपर प्रश्नोत्तर-विधिके नामसे कही गई है। अन्तर केवल यह है कि इसमें विद्यार्थी अपने अध्यापकसे प्रश्न पूछते हैं अथवा परस्पर संवाद-द्वारा विवादग्रस्त विषयका निर्णय करते हैं। चौथी तर्क-विधिमें तर्क, प्रमाण तथा युक्तियोंका सहारा लिया जाता है। यह विधि प्रायः ऐसे विषयोंके लिये प्रयुक्त होती है जिनके विषयमें दोनों ओरसे बहुत कुछ कहा जा सकता है। इस विधिमें अध्यापकको केवल एक ही पक्षका समर्थन नहीं करना चाहिए वरन् दोनों पक्षोंका विवरण देना चाहिए। पाँचवीं

व्याख्यान-विधि वही है जो हमारे यहाँ कौलेजोंमें काममें लाई जाती है। इसमें अध्यापक एक तटस्थ व्यक्तिके समान आता है और व्याख्यानके समान प्रस्तुत विषय पर अपने विचार कहकर चला जाता है' चाहे उसे किसीने सुना-समझा हो या नहीं।

विस्तृत व्याख्या हो चुकने पर कुछ ऐसे सरल, स्पष्ट और क्रमिक प्रश्न पूछे जायँ कि उन प्रश्नों द्वारा छात्रोंसे पठित अंशका पूरा पूरा ब्यौरा निकलवा लिया जा सके। इस क्रमको विचार-विश्लेषण कहते हैं।

४—सिद्धान्त-निरूपणमें दो अवस्थाएँ होती हैं। यदि नवीन ज्ञान देनेका उद्देश्य कोई सिद्धान्त या नियम सिखाना होता है तो विस्तृत व्याख्या तथा विचार-विश्लेषण करनेके उपरान्त छात्रोंसे ही नियम या सिद्धान्त निकलवा लेना चाहिए। यदि पाठका उद्देश्य सिद्धान्त या नियम सिखाना न हो तो आवृत्ति द्वारा पढ़े हुए पाठ्य-विषयको पक्का करा देना चाहिए। भाषाकी शिक्षा देते समय तो पुनरावृत्ति ही करानी चाहिए किन्तु व्याकरण, रस, अलंकार, पिङ्गल आदिकी शिक्षामें सिद्धान्त-निरूपण ही करना चाहिए। इस भेदके कारण इस पदको शुद्ध सिद्धान्त-निरूपण न कह कर हम पुनरावृत्ति भी कह सकते हैं।

५—नवीन ज्ञानके दृढ़ हो जाने पर अभ्यासार्थ ऐसी समस्याएँ, ऐसे प्रश्न अथवा कार्य देने चाहिएँ कि बालक नवीन ज्ञानका प्रयोग कर सके। क्योंकि यदि सीखी हुई बातोंको स्वतन्त्र प्रयोग करनेका अवसर नहीं मिलता तो वे

लुप्त हो जाती हैं। संभव हो तो यह प्रयोग कक्षामें ही समाप्त हो जाय अन्यथा घरसे पूरा करके लानेके लिये दे दिया जाय।

सारांश यह है कि गद्य पाठके पाठ-सूत्र बनाते समय पाठन-क्रम यों रखना चाहिए—

कक्षा— समय—

विषय अथवा पाठ—(पाठका शीर्षक)

पाठ्य सामग्री—(कितना अंश पढ़ाया जायगा)

मुख्य उद्देश्य—

पाठन-प्रणाली—

प्रस्तावना—(प्रश्न दिए जायँ अथवा जिन साधनोंका प्रयोग किया जाय उनका स्पष्ट उल्लेख हो)

विषय-प्रवेश—

(१) सस्वर अथवा मौन पाठ

(क) अध्यापक द्वारा

(ख) छात्रों द्वारा

(२) बोध-परीक्षा (प्रश्नोंका उल्लेख हो)

आत्मीकरण—

(क) विस्तृत व्याख्या

(ख) विचार-विश्लेषण

पुनरावृत्ति—

प्रयोग—

यहाँ हम गद्य-पाठके पढ़ानेका क्रम, उसकी प्रणाली तथा विधियोंकी चर्चा समाप्त करते हैं।

१६

कविता पढ़ानेके उद्देश्य और उसकी शिक्षण-विधियाँ

पद्य और कवितामें भेद है। कोई भी छन्दोबद्ध रचना पद्य कहला सकती है। परन्तु कविताकी परिभाषा भिन्न भिन्न विद्वानोंने भिन्न-भिन्न ढंगोंसे की है। आचार्य मम्मटके कथनानुसार दोषरहित, गुणसहित प्रायः अलंकृत पर कभी-कभी अनलंकृत शब्द और अर्थको काव्य कहते हैं।* इस परिभाषाको एकदम ठीक माननेमें प्रधान बाधा यह है कि स्वरूप-लक्षणके भीतर किसी वस्तुके गुणयुक्त और दोषयुक्त होनेका विचार नहीं किया जा सकता। जैसे यदि हम घोड़ेका स्वरूप-लक्षण निर्दिष्ट करें तो हमारा यह कहना कदापि उचित न होगा कि दोषयुक्त तथा गुणयुक्त अमुक-अमुक लक्षणोंवाले चतुष्पदको घोड़ा कहते हैं। क्योंकि यद्यपि तेज चलना घोड़ेका गुण है तथापि यदि वह तेज न

* तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि। —काव्यप्रकाश

चले तो भी उसके घोड़ेपनमें कोई अन्तर न आवेगा। वह घोड़ेका घोड़ा ही रहेगा। इसके अतिरिक्त गुण शब्दका अर्थ यदि ओज, माधुर्य्य आदि लें तो उसका सम्बन्ध रीतिसे हो जायगा जो उक्त लक्षण स्वरूपके भीतर नहीं आता। वस्तुतः गुणका सम्बन्ध रससे ही होता है शब्द या अर्थसे नहीं। फिर परमात्माके सिवाय और कौन निर्दोष कहला ही सकता है।

इसी प्रकार 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर वामनने काव्यका आत्मा रीतिको बतलाया है। रीतिसे अर्थ है गौड़ी, वैदर्भी और पांचाली रीतियाँ। अतः रीतिका सम्बन्ध हुआ वर्णोंकी व्यवस्थासे। अर्थात् इसका सम्बन्ध कानों पर पड़नेवाले प्रभावसे है। वामन तो काव्यमें सङ्गीत-तत्त्वके समर्थक हैं। वे इसे ही कविता मानते हैं। पर विचारणीय बात यह है कि यदि हम इसीको कविताका आत्मा मान लें तो काव्य और सङ्गीत-तत्त्वके मिश्रणसे केवल कविताका माधुर्य्य भर बढ़ जाता है। अतः काव्यमें रीति केवल सहायक भर है। इसके अतिरिक्त उक्त लक्षणमें केवल वर्णोंका ध्यान रक्खा गया है, शब्द या अर्थका नहीं। परन्तु केवल वर्णकी व्यवस्था ही काव्यकी अनुभूतिके लिये पर्य्याप्त नहीं है।

दूसरी ओर भामह और दण्डी काव्यमें अलङ्कारका होना आवश्यक मानते हैं। शोभाको बढ़ानेवाली वस्तुको अलङ्कार कहते हैं। अर्थात् पहलेसे सुन्दर वस्तु उपस्थित रहती है और अलङ्कार केवल उसकी शोभाको बढ़ाते हैं। कहनेका तात्पर्य्य यह है कि अलङ्कारोंसे शोभा बढ़ सकती है न कि

उसकी उत्पत्ति होती है । असुन्दर और अशोभन वस्तुकी शोभा बढ़ानेके बदले अलङ्कार उसे और भी भद्दा बना देते हैं।

पंडितराज जगन्नाथ कहते हैं, 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।' अर्थात् रमणीय अर्थ बतानेवाला शब्द ही काव्य है। और रमणीयताकी परिभाषा यह है कि क्षण-क्षण पर जिसमें नवीनता दिखाई पड़े वही रमणीयता कहला सकती है—'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः। विश्वनाथ कविराजका कहना है—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' अर्थात् रसीला वाक्य ही काव्य है। कोई कहते हैं काव्यकी आत्मा ध्वनि ही है। इस प्रकार जितने आचार्य्य हैं सभीने अपनी-अपनी दृष्टिसे कविताको देखा है। जिसे उसका कोई अंग रुचा उसने उसका वैसा ही वर्णन किया। अनेक आचार्य्योंके बीचमें कविताकी वही गति हुई जो धनुषभंगके समय रामकी हुई थी—

जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी॥

हिन्दी साहित्यके आचार्य्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल द्वारा दिए हुए कविताके लक्षणसे बहुत कुछ हमारे उद्देश्यकी पूर्त्ति हो जाती है। शुक्लजीके कथनानुसार 'कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टिके साथ हमारे रागात्मक सम्बन्धकी रक्षा और निर्वाह होता है।' इसीसे मिलता-जुलता लक्षण अँगरेज कवि कीट्सने दूसरे अँगरेज कवि पोपकी कविता पर टिप्पणी करते हुए बताया था—

"..................फौर्गैटिंग दि ग्रेट एंड
ऑफ़ पोएट्री, दैट इट शुड बी ए फ्रैण्ड

टु सूद दि केअर्स ऐण्ड लिफ़्ट दि थौट्स औफ़ मेन्।"

अर्थात् पोप कविताका महान् उद्देश्य भूल गए कि वह उस मित्रके समान हो जो चिन्ताओंको शान्त करे और मनुष्योंके विचारोंको उन्नत करे।"

कमसे कम स्कूलोंमें छात्रोंको इसी दृष्टिसे कविता पढ़ानी चाहिए और इसी उद्देश्यवाली कविताएँ पाठ्य-पुस्तकोंमें रखनी चाहिएँ।

इस प्रकार हमें छन्दोबद्ध रचनाओंकी तीन श्रेणियाँ मिलती हैं। पहलीमें कोरी लयदार तुकबन्दी या बाल-गीत, दूसरीमें वर्णनात्मक पद्य और तीसरीमें विशुद्ध कविता। बालकोंके अध्ययनकी भी साधारणतः तीन अवस्थाएँ हैं जिन्हें प्रारम्भिक, मध्य तथा उच्च अवस्था कह सकते हैं। प्रारंभिक अवस्थावाले विद्यार्थियोंको केवल लयदार तुकबन्दियाँ या बाल-गीत, मध्यावस्थावालोंको सरल पद्यमय रचनाएँ और उच्च कक्षावालोंको भावमयी कविताएँ सिखानी चाहिएँ।

बच्चोंको ऐसे सरल पद्य याद कराने चाहिएँ जिनमें सरल शब्द हों, जो सरलताके साथ गाए जा सकें और जिनमें लयगतिके साथ नाट्य करनेका सुपास हो। मध्यम श्रेणीके विद्यार्थियोंके लिये ऐसी रचनाओंका संग्रह करना चाहिए जिनकी छाप उनके हृदय पर पड़े, जो देश-भक्ति विषयक हों या दया, उत्साह आदि उदात्त भावोंको जगानेवाली हों। ऐसी कविताएँ विद्यार्थियोंको अवश्य कण्ठस्थ करानी चाहिएँ। उच्च कक्षाके विद्यार्थियोंके

लिये प्रस्तुत संग्रहोंमें ऐसी कविताएँ देनी चाहिएँ जिन्हें वे चावसे पढ़ें और कण्ठस्थ कर लें। ये बातें हम पीछे विस्तार-से सुझा आए हैं।

गद्य और पद्यकी शिक्षामें बड़ा अन्तर है। गद्यकी नीरसता तथा संगीत-हीनताके कारण उसकी शिक्षामें एक नियमित यन्त्रके समान व्यवहार होता है। उसमें जिस कुतूहलका प्रयोग किया जाता है, जो रुचिकर सामग्री लाकर मिलाई जाती है उसमें स्वाभाविकता नहीं होती। बलपूर्वक गुदगुदी करके मुस्कराहट पैदा की जाती है। किन्तु पद्य या कवितामें यह बात नहीं है। कविता छन्दोमय होती है। छन्दोबद्ध तथा नियमित गतिमें होनेके कारण वह तालपर चलती है। तालपर सधी होनेसे वह रागमय हो जाती है और रागमय होनेके कारण वह हृदय तक पहुँचती है। इसीलिये शताब्दियोंसे हमारा संपूर्ण संचित ज्ञान पद्यमय तथा कवितामय बना रहा। कुछ उसके माधुर्य्यने तथा कुछ उसके लघु स्वरूपने मानव-हृदय तथा मस्तिष्कको अपनी ओर आकर्षित कर लिया। हमारे शिक्षा-शास्त्रियोंने भी इसीलिये पद्य या कविताकी शिक्षण-पद्धति-का विधान गद्य-शिक्षण-पद्धतिसे अलग किया है।

पद्य तथा कविता-शिक्षणके लिये निम्नलिखित प्रणालियाँ प्रचलित हैं—

१. गीत तथा अभिनय-प्रणाली।

२. अर्थ-बोध-प्रणाली।

३. व्याख्या-प्रणाली।

४. खण्डान्वय-प्रणाली।

५. व्यास-प्रणाली।

६. तुलना-प्रणाली।

७. समीक्षा-प्रणाली।

१—गीत तथा अभिनय-प्रणाली उन बाल-गीतोंके लिये प्रयोगमें लानी चाहिए जो प्रारम्भिक कक्षाओंके बच्चोंको पढ़ाए जाते हैं। इन गीतोंमें अर्थका कोई महत्त्व नहीं होता। केवल बालकोंको सस्वर बनाना तथा तालमें लाना और उनको संगीतसे परिचित कराना ही इनका उद्देश्य होता है। ये दो प्रकारके होते हैं—एकमें गीतध्वनिकी प्रधानता होती है। जैसे—

खन खन खन खन बजे रुपैया।
घन घन घंटा बोले भैया॥
झन् झन् झन् झन् झींगुर बोले।
भन् भन् करता भौंरा डोले॥

दूसरेमें अभिनयकी प्रधानता होती है। जैसे—

आ मेरे सँग बैठ बिलैया।
ले, मुँह बा, खा दूध-मलैया॥
घुर घुर घुर घुर घुर घुर घुर घूँ।
दाँत निकाला तो मैं मारूँ॥
म्याऊँ म्याऊँ, मैं न डरूँगी।
तेरा मुँह मैं बन्द करूँगी॥
चल, हट, जा, अब पास न आना।
आता है ले मोती नाना॥

भौं भौं भा भा भौं भौं भा भा।
अब क्यों बैठी गोदी में आ॥
जा जा मोती, अब मत आना।
पूसी ने कहना है माना॥

इन उपर्युक्त दोनों प्रकारके गीतोंमेंसे प्रथमको गीत-प्रणालीसे पढ़ाना चाहिए। गीत-प्रणाणीसे पढ़ानेकी विधि यह है कि कक्षाके बच्चोंको खड़ा करके हाथसे ताल दिलाकर किसी सरल रागमें पद्यको गवाना चाहिए। यदि ऐसी रचनाओंमें कहीं विशेष ध्वनियाँ आती हों तो वे ही ध्वनियाँ प्रयत्न करके कहलानी चाहिएँ जैसे ऊपर लिखी हुई पहली रचनामें खन् खन्, घन् घन्, झन् झन् इत्यादि हैं।

दूसरे प्रकारके गीतोंकी शिक्षा देते समय विद्यार्थियों-को पंक्तिमें खड़ा करके पहले तो सबसे शब्द, वाक्य या भाव-के अनुसार अभिनय कराना चाहिए और फिर उस पद्यमें आए हुए चरित्रोंके अनुसार पात्र निश्चय कर लेने चाहिएँ और उनके अनुकूल गीतका भाग पृथक् पृथक् गवाकर कहलाना चाहिए।

अब यदि दूसरे गीतको पढ़ाना हो तो पहले बच्चोंको तीन पंक्तियोंमें इस प्रकार खड़ा किया जाय—
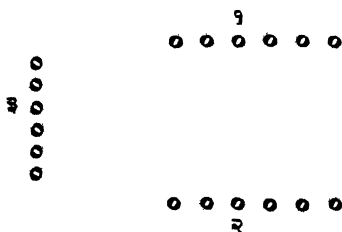
१
० ० ० ० ० ०

०
०
३ ०
०
०
०

० ० ० ० ० ०
२

पहली पंक्तिवाले बच्चे कहेंगे—

आ (१) मेरे सँग (२) बैठ बिलैया (३)
ले (४) मुँह बा (५) खा दूध-मलैया (६)

इन दो पंक्तियोंको कहते समय ये बालक इस प्रकार अभिनय करेंगे—

१. आ—दाहिने हाथसे तथा गर्दनसे बुलानेका भाव दिखला कर।

२. मेरे सँग—दाहिने हाथको छातीसे लगाकर।

३. बैठ बिलैया—बाएँ हाथकी हथेलीसे पासमें बिठानेका अभिनय करके।

४. ले—दाहिने हाथका अँगूठा उँगलियोंके बीचमें रखकर कुछ देते हुएका भाव दिखाकर।

५. मुँह बा—दोनों हाथोंसे इस प्रकार अभिनय करना मानो बिल्लीका मुँह खोलते हों।

६. खा दूध-मलैया—दाहिने हाथको इस प्रकार आगे बढ़ाना मानो बिल्लीके मुँहमें हाथ दे रहे हों।

इसके पश्चात् दूसरी पंक्तिवाले बच्चे पहली पंक्तिकी ओर दाँत निकालकर इस प्रकार कहेंगे जैसे बिल्ली घुरघुराती है—घुर् घुर् घुर् घुर् घुर् घुर् घुर् घूँ।

फिर पहली पंक्तिवाले कहेंगे—

दाँत निकाला तो मैं मारूँ

ऊपर 'दाँत निकाला' कहते समय दाँत निकालने तथा 'तो मैं मारूँ' कहते समय धीरेसे चपत लगानेका अभिनय कराना चाहिए।

इसके पश्चात् दूसरी पंक्तिवाले बिल्लीकी बोलीमें कहते हैं—

म्याऊँ म्याऊँ—

फिर पहली पंक्तिवाले सिरको झटका देकर कहते हैं—

....मैं न डरूँगी।

इसमें 'मैं' कहते हुए हाथ छाती पर लगाकर तथा 'न डरूँगी' कहते हुए हाथसे मना करनेका अभिनय कराना चाहिए। फिर निम्नलिखित भागको उचित अभिनयके साथ कहलाना चाहिए—

तेरा मुँह मैं बन्द करूँगी
चल, हट, जा, अब पास न आना
आता है ले मोती नाना।

इसके पश्चात् तीसरी पंक्तिवाले बच्चे कुत्तेके समान भौंकते हुए एक एक ध्वनिके साथ एक एक पग आगे बढ़ेंगे और दूसरी पंक्तिवाले दौड़कर पहली पंक्तिमें दो दो के बीचमें एक-एक करके खड़े हो जायँगे। तब पहली पंक्तिवाले अपने बगलवाले बच्चेकी ओर मुँह करके कहेंगे—

'अब क्यों बैठी गोदी में आ'

फिर तीसरी पंक्तिवालोंको हाथसे इशारा करके कहते हैं—

'जा, जा मोती अब मत आना'
पूसी ने कहना है माना॥

जब सामूहिक अभिनय द्वारा एक साथ ठीक अभिनय आ जाय तो फिर अलग अलग अभिनय कराना चाहिए। इस प्रकार अभ्यास द्वारा बालकोंको पद्योंमें रुचि होने

लगती है, उनमें फुर्ती आती है, पद्य याद हो जाता है, उचित अंग-संचालनके द्वारा भाव व्यक्त करनेकी विधि आ जाती है, पाठ तनिक भी भारी नहीं लगता। सब ज्ञान खेलके द्वारा ही प्राप्त हो जाता है। ऐसे बाल-गीतोंका अर्थ सिखानेकी आवश्यकता नहीं है।

२—अर्थ-बोध-प्रणालीकी अधिक व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह वही दूषित प्रणाली है जिसका प्रयोग हमारे अध्यापक मित्र बड़े धड़ल्लेके साथ करते हैं और कविताका गला घोंट-घोंटकर, साँसत दे-देकर उसकी हत्या करते हैं। इस प्रणालीमें अध्यापक एक छात्र-से कोई पद्य पढ़वाते हैं और स्वयं उसका अर्थ कह देते हैं या कभी-कभी छात्रसे ही अर्थ कहलवा लेते हैं। इस दूषित प्रणालीके इतने अधिक प्रचलित होनेका दोष अध्यापकोंके सिर उतना नहीं मढ़ा जा सकता जितना पाठ्य-पुस्तकोंके संकलयिताओंके सिर। यदि हम हाइ स्कूलकी अँगरेजी तथा हिन्दी कविताकी पाठय-सामग्रीकी तुलना करें तो हमें यह जानकर अत्यन्त आश्चर्य होगा कि अँगरेजीमें बारह या पन्द्रह कविताएँ मात्र हैं और हिन्दीमें कबीरसे सुमित्रा-नन्दन पन्त तक बाईस कवियोंकी पचपन शीर्षकोंमें एक सौ बत्तीस पृष्ठोंपर छपी हुई कविताओंका विराट् संग्रह है। कोई भी कुशल अध्यापक सच्चाई तथा शुद्ध हृदयसे इतनी कविताएँ निर्दिष्ट समयमें नहीं पढ़ा सकता। अतः उसे झख मारकर अर्थ-बोध-प्रणालीका आश्रय लेकर पाठ समाप्त करने ही पड़ते हैं।

३. व्याख्या-प्रणालीमें अध्यापक एक पदको लेकर उसका अर्थ कहते हुए उसकी रचना-शैली, परिस्थिति, कविकी रुचि, उद्देश्य आदिकी व्याख्या करके पदका अर्थ स्पष्ट करता है। यदि पदका किसी ऐतिहासिक घटनासे संबन्ध होता है तो उस घटनाका भी ज्ञान करा दिया जाता है। एक गोस्वामीजीका पद लीजिए—

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिए ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥
पिता तज्यो प्रहलाद बिभीषण बन्धु भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यौ कन्त ब्रज बनितनि भे मुदमंगलकारी॥

उपर्युक्त पदको अर्थ-बोध-प्रणालीसे पढ़ानेवाला अध्यापक निम्नलिखित अर्थ बताकर आगे बढ़ जायगा—

'जिसको राम और सीता प्यारे नहीं हैं वह चाहे जितना भी प्यारा क्यों न हो उसको करोड़ों बैरियोंके समान छोड़ देना चाहिए। प्रह्लादने पिताको छोड़ा, विभीषणने भाईको, भरतने माताको, बलिने गुरुको छोड़ा और ब्रजकी स्त्रियोंने अपने पतियोंको छोड़ा और सब आनन्द-मंगलसे रहे।

किन्तु व्याख्या-प्रणालीसे पढ़ानेवाला अध्यापक केवल अर्थसे संतुष्ट नहीं होता। वह प्रह्लाद और हिरण्यकशिपु, विभीषण और रावण, भरत और कैकेयी, बलि और शुक्राचार्य तथा ब्रज-वनिताओंकी कथाओंका विवरण देगा, भगवान्‌से प्रेम करने तथा उनके विरोध करनेका परिणाम बतावेगा, गोस्वामीजीके सिद्धान्तका परिचय देगा, इस

पदके साथ मीराबाईके लोक-प्रसिद्ध पत्रका परिचय देगा, तब यह बात समझावेगा कि गोस्वामीजीने यह क्यों कहा कि—

'तजिए ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही ॥'

साधारणतः कविता पढ़ानेमें इसी प्रणालीका प्रयोग करना चाहिए ।

४—खण्डान्वय-प्रणाली वही है जिसे गद्य-शिक्षणमें हम ठेठ प्रश्नोत्तर-प्रणाली कह आए हैं । यह प्रणाली उन पद्योंके पढ़ानेमें काम आती है जहाँ विशेषणोंकी भरमार हो, भावोंकी भीड़ हो, घटनाओंकी घटा हो और एक एक बात अलगाए बिना अर्थ स्पष्ट करनेमें बाधा आती हो । एक दोहा लीजिए—

अधर धरत हरिके परत ओठ डीठ पट जोति ।
हरित बाँसकी बाँसुरी इन्द्र धनुष सम होति ॥

इस दोहेको खण्डान्वय-प्रणालीसे पढ़ानेके लिये निम्नलिखित प्रश्न करने होंगे—

प्र०—हरि क्या वस्तु अधर पर धरते हैं ।

उ०—बाँसुरी ।

प्र०—बाँसुरी किस वस्तुकी बनी हुई है ।

उ०—बाँसकी ।

प्र०—कैसे बाँसकी ।

उ०—हरे ।

प्र०—अधर पर हरी बाँसुरी रखनेसे क्या होता है ।

उ०—ज्योति पड़ती है ।

प्र०—किस वस्तुकी।

उ०—ओठकी।

प्र०—और।

उ०—डीठकी (दृष्टिकी)।

प्र०—और।

उ०—पटकी।

प्र०—इससे क्या होता है।

उ०—बाँसुरी इन्द्र-धनुष सी दिखाई देती है।

प्र०—क्यों।

उ०—क्योंकि विभिन्न वस्तुओंकी अलग-अलग ज्योति पड़ती है।

प्र०—ओठकी कैसी पड़ती है।

उ०—लाल।

प्र०—दृष्टिकी कैसी पड़ती है।

उ०—नीली।

प्र०—पटकी कैसी पड़ती है।

उ०—पीली।

प्र०—केवल तीनही रंगोंसे इन्द्र-धनुषकी सृष्टि कैसे हुई।

उ०—नीला, पीला और लाल ये ही तीन प्रधान रंग हैं। इन्हींके मेलसे सातों रंग बनते हैं।

प्र०—क्या कवि इन्द्र-धनुष कहनेसे केवल सात रंगोंका रूप मात्र बतलाना चाहता है।

उ०—नहीं, उसका तात्पर्य इन्द्र-धनुषकी सुन्दरताका वर्णन करना है।

प्र०—इस दृष्टिसे इस दोहेका क्या अर्थ होगा।

उ०—जब श्रीकृष्णजी हरे बाँसकी बाँसुरी ओठों पर रखते हैं तब ओठ, नेत्र तथा पीताम्बरका प्रकाश पड़नेसे 'वह इन्द्र-धनुषके समान सुन्दर लगती है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि यह प्रणाली सब स्थानों पर तथा सब प्रकारके पद्यों तथा कविताओंके शिक्षणमें काममें नहीं लाई जा सकती। प्रायः वर्णनात्मक तथा ऐतिहासिक पद्य इस प्रणालीसे पढ़ाए जा सकते हैं।

५—व्यास-प्रणाली मुख्यतः उच्च श्रेणीकी भाव-प्रधान कविताओंको पढ़ानेके लिये प्रयोगमें लाई जाती है। इस प्रणालीमें अध्यापक वही स्थान ग्रहण करता है जो कथाओंमें व्यास ग्रहण करते हैं। जिन लोगोंने व्यासोंके मुखसे कथाएँ सुनी होंगी वे इस प्रणालीका महत्त्व तथा इसकी उपादेयता समझ सकेंगे। इस प्रणालीमें एक पद लेकर उसको दो दृष्टियोंसे परखा जाता है—एक भाषाकी दृष्टिसे, दूसरी भावकी। भाषाकी दृष्टिसे विचार करते समक अध्यापक एक एक शब्दका महत्त्व, उसकी उपादेयता, उसके स्थान पर दूसरा शब्द प्रयोग करनेसे अर्थापत्ति, श्रुति-मधुरता, शब्दका बल, वाक्य-विन्यासके विशेष प्रभाव आदिकी व्याख्या करता है। भावकी दृष्टिसे विचार करते समय अध्यापक निर्दिष्ट पदकी अन्य कवियोंके समान भाववाले पदोंसे तुलना करता है। उसकी व्याख्या करते समय बाहरसे उदाहरणों, दृष्टान्तों, सूक्तियों तथा कथाओं द्वारा उसके

भावको भली-भाँति स्पष्ट कर देता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि भाषा और भाव दोनोंका साथ-साथ विचार करना चाहिए। इस प्रणालीसे पढ़ानेवाले अध्यापकको हिन्दी, उर्दू, संस्कृतका तथा इतिहासादिका विस्तृत ज्ञान होना चाहिए तभी वह इस प्रणालीसे पढ़ानेमें सफलता पा सकता है। साथ ही उसे कुशल अभिनेता भी होना चाहिए। भावोंकी व्याख्या करके उन्हीं भावोंमें वह कभी तो अपनेको डुबाता-उतराता चले, कभी करुणाके प्रसंगमें अश्रुधारा बरसा दे, कभी हास्यके समय श्रोताओंको हँसा दे, कभी वीर रसके प्रसंगमें गंभीर वाणी, फड़कते नासापुटों, चढ़ी हुई भौहों तथा हाथोंके संचालनसे ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दे कि श्रोताओंमें उत्साह भर जाय और उनकी भुजाएँ फड़कने लगें।

गोस्वामीजीकी विनयपत्रिकाके एक पदका अंश लीजिए—

कबहुँक अम्ब अवसर पाइ।

मेरिऔ सुधि द्याइबी कछु करुन कथा चलाइ॥

व्यास-प्रणालीसे संक्षेपमें इसकी व्याख्या यों होगी—

गोस्वामीजीको कलिकालने सता रक्खा है, रामके सिवाय उनकी मुक्तिका और कौन सहारा है। उन्होंने कविता-वलीमें स्पष्ट कह दिया है—

राम हैं मातु पिता गुरु बन्धु औ संगी सखा सुत स्वामि सनेही।
रामकी सौंह भरोसो है रामको राम रँग्यो रुचि राँच्यो न केही॥
जीयत राम मरे पुनि राम सदा मति रामहिंकी एक जेही॥
सोइ जियै जगमें तुलसी नतु डोलत और मुए धरि देही॥

कलिकालकी शिकायत सिवाय राजा रामचन्द्रजीके और किससे की जाय। उन्होंने झट अर्जी—विनयपत्रिका लिखी। पर राजाके दरबार तक पहुँचनेका ठिकाना भी तो चाहिए। वहाँ न जाने कितने लोग आते-जाते हैं, दिनरात भीड़ लगी रहती है, फिर पहुँच कैसे हो। वे गणेशजी, शिवजी, सूर्य्य आदि देवताओंकी प्रार्थना करते हैं क्योंकि ये लोग उस दरबारमें आते-जाते हैं। पर उनसे काम चलता दिखाई नहीं देता। भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न आदिसे कहते हैं। राजाके भाई हैं, इनकी अवश्य सुनेंगे। पर ये लोग स्वतः राजशीलमें बँधे हैं, कुछ नहीं कर सकते। हनुमानजीका बड़ा भरोसा है। रामचन्द्रजी इन्हें बहुत मानते हैं पर इधरसे भी कुछ अधिक न मिला। तब गोस्वामीजीने ब्रह्मास्त्र निकाला। सीताजीसे ही क्यों न कहलाया जाय। उनकी बात रामचन्द्रजी कभी नहीं टाल सकते। गोस्वामीजी बड़ी चतुरतासे उनसे कहते हैं—अम्ब! कबहुँक अवसर पाइ कछु करुन कथा चलाइ मेरिऔ सुधि द्याइबी।

अम्ब क्यों कहा। महारानी क्यों नहीं कहा। अम्बका अर्थ है माता। माता अपने पुत्रके लिये क्या नहीं करती। महारानीकी तो इच्छा पर है, मौज पर है, करे करे, न करे। पर माँ अपने पुत्रकी आँखोंमें आँसू नहीं देख सकती। माँसे ऊँचा महिलाओंके लिये कोई दूसरा पद और सम्बोधन नहीं हो सकता। इसी पदके कारण वे पूज्य हैं, आराध्या हैं। किन्तु अम्ब कहकर चञ्चल बालकके समान गोस्वामीजी एकदम अपनी वकालत करनेके लिये नहीं कहते।

वे कहते हैं—माँ, कबहुँक, कभी, अभी नहीं, अवसर पाइ, अवसर पाकर, मेरिऔ, मेरी भी, सीधे—बिना समझाए—नहीं, कछु करुन कथा चलाइ, कुछ करुणापूर्ण कथाके साथ, सुधि द्याइबी, याद दिलाइएगा।

इसमें एक-एक शब्दका महत्त्व है। ऐसा न हो कि रामचन्द्रजी थके-माँदे आवें, आप मेरा पचड़ा सामने रख दें। वे सुनी अनसुनी कर दें। इसलिये कभी अवसर पाकर, जब वे प्रसन्न हों, आनन्दसे बैठे हों, उस समय याद दिलाइएगा। गोस्वामीजी जानते हैं कि सीताजी स्वयं चतुर हैं। ऐसे ही समय मेरे जैसे और भी बहुतसे दुखियोंकी व्यथा सुनाती होंगी। गोसाईंजी दूसरोंका भी कल्याण चाहते हैं, स्वार्थी नहीं है, इसलिये मेरिऐ—'मेरी ही'—नहीं कहते बल्कि वे कहते हैं कि जहाँ आप औरोंकी व्यथा सुनावें वहाँ मेरिऔ—'मेरी भी' याद दिला दीजिएगा। पर ऐसा न हो कि आप केवल याद दिलाकर ही बस करें। सुधि दिलाते समय कुछ मेरी दुर्दशाका चित्र खींचिएगा, कुछ पुराने पापियोंके तरनेकी चर्चा भी कर दीजिएगा, कलिकालने मुझे जो पीड़ा दी है उसकी भी याद दिलाइएगा। इस प्रकार आप करुण कथा चलाकर कहिएगा तो बड़ा प्रभाव पड़ेगा। रामचन्द्रजी बड़े दयालु हैं। यह सुनेंगे तो द्रवित हो जायँगे, मेरी बिगड़ी बन जायगी—'सुनत राम कृपालुके मेरी बिगरिऔ बनि जाय।'

ऊपर हमने संकेतसे व्यास-प्रणालीसे पढ़ानेकी व्याख्या की है। यह स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रणालीमें सब

काम अध्यापक करता है। विद्यार्थी चुपचाप सुनते हैं और उनके हृदय पर जो प्रभाव पड़ता है वह उनकी भाव-भंगी, आँखोंके उल्लास आदिसे व्यक्त होता रहता है। भावात्मक कविताओंकी शिक्षामें इसी प्रणालीका प्रयोग किया जाना चाहिए। प्रश्नोत्तर-विधिका प्रयोग इसमें बिलकुल नहीं होना चाहिए क्योंकि प्रश्नोत्तर-विधिसे काव्य नीरस हो जाता है और भाव नष्ट हो जाता है।

६—तुलना-प्रणाली और तुलना-विधिमें अन्तर है। तुलना-विधि तो किसी एक शब्द या वाक्यका समानार्थी शब्द या वाक्य देकर उसका अर्थ स्पष्ट करनेमें प्रयोग की जाती है किन्तु तुलना-प्रणाली पद्य या कविता पढ़ानेकी एक भिन्न प्रणाली है। प्रायः यह देखनेमें आता है कि एक ही कवि अपने बनाए हुए विभिन्न काव्योंमें एक ही बात कई उद्देश्यों, प्रकारों या भावोंसे कहता है या कई कवि एक ही भावको कई प्रकारोंसे कहते हैं। ऐसे भावों या वर्णनोंको तुलनात्मक प्रणालीसे पढ़ाना चाहिए। इससे एक पन्थ दो काज होता है, विद्यार्थीकी विवेचना-बुद्धि बढ़ती है, उसके ज्ञानका विस्तार होता है और कविके उद्देश्यों, कविताके भिन्न स्वरूपों तथा एक भावको कई प्रकारसे व्यक्त करनेकी शैलियोंका परिज्ञान होता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने अपनी बरवै रामायण, कवितावली रामायण, तथा रामचरित-मानसमें गंगाजीके तटपर राम और निषादके मिलनका यों वर्णन किया है—

सजल कठौता कर गहि कहत निषाद।
चढ़हु नाव पग धोइ करहु जनि बाद॥ (बरवै रामायण)

एहि घाट तेँ थोरिक दूर अहै कटिलौं जल थाह दिखाइहौं जू।
परसे पगधूरि तरै तरनी घरनी घर क्यौं समुझाइहौं जू॥
तुलसी अवलंब न और कछू लरिका केहि भाँति जिआइहौं जू।
बरु मारिए मोहिं बिना पग धोए हौं नाथ न नाव चढ़ाइहौं जू॥

(कवितावली)

माँगी नाव न केवट आना। कहेउ तुम्हार मरम मैं जाना।
चरण कमल रज कहँ सब कहई। मानुष करनि मूरि कछु अहई।
छुअत सिला भइ नारि सुहाई। पाहनतें न काठ कठिनाई।
तरनिउ मुनि घरनी ह्वै जाई। बाट परै मोरि नाव उड़ाई।
एहि प्रतिपालौं सब परिवारू। नहिं जानउँ कछु और कबारू।
जौ प्रभु अवसि पार गा चहहू। तौ पद-पदुम पखारन कहहू।

(रामचरित-मानस)

इनमेंसे पहलेमें वर्णनके लिये अधिक स्थान नहीं है। सीधे एक गँवार, उजड्ड मल्लाह उसी प्रकार श्रीरामसे व्यवहार करता है जैसे आजकलके कोई कोई मल्लाह करते हैं कि चार पैसे देने हों तो दीजिए नहीं तो आगे बढ़िए। बरवै रामायणका केवट हाथमें जलसे भरा हुआ कठौता लेकर कहता है—'पैर धोकर नावपर चढ़ जाओ, बाद मत करो, बहस मत करो'। कैसा टेढ़ा आदमी है।

कवितावली रामायणमें एक साधारण मल्लाहका चित्र है जो लक्ष्मणसे डरता है, रामको जादूगर समझता है, साफ साफ मने नहीं कर सकता है और अपनी बातको घुमा-फिरा कर सफाई देता हुआ कहता है—चलिए इस घाटसे आगे कमर तक पानी है, मैं आगे आगे थाह देता चलूँगा। अपनी

आशंका प्रकट करता है कि आपके पैरसे छू जाने पर नाव उड़ जायगी तो मेरी स्त्री मुझे घरमें न रहने देगी या यदि तरकर यह भी एक स्त्री हो गई तो घरमें नित्य झगड़ा-बखेड़ा होगा। दो स्त्रियाँ मिलकर न रह सकेंगी, मेरे सिर पर बाल न रहेंगे। फिर अपनी विवशता दिखाता है कि नावसे ही बच्चोंके पेट पालनेका सहारा है। उसके बिना गृहस्थी कैसे चलेगी। फिर देखता है कि लक्ष्मणजीकी आँखोंमें कुछ क्रोध है, धनुष तौल रहे हैं तो लाचार होकर कह बैठता है कि चाहे मार डालिए पर बिना पैर धोए मैं नाव पर न चढ़ने दूँगा। इस केवटमें शील, भय, आशंका, विवशता सबका अद्भुत सम्मिश्रण है। यह केवटका मनोवैज्ञानिक निरूपण है।

अब तीसरे रामचरित-मानसके केवटको लीजिए। रामचरित-मानसमें मर्य्यादाका पालन किया गया है। केवट चतुर है, रामकी मर्य्यादा जानता है। चक्रवर्त्ती महाराज दशरथके पुत्रसे कैसे व्यवहार करना चाहिए, इसका उसे ज्ञान है। वह यह भी सुन चुका है कि रामचन्द्रजी साक्षात् भगवान् हैं। उनका चरणामृत ग्रहण करना ही चाहिए। इसीलिये नाव माँगने पर वह नहीं लाया और बोला—मैं तुम्हारा सब भेद जानता हूँ कि तुम वास्तवमें कौन हो। तुम्हारे चरण-कमलकी धूलिमें यह प्रभाव है कि वह पत्थरको—प्राणहीन, हृदयहीन, गुणहीन व्यक्तिको,—मनुष्य बना देती है, उसे सहृदय तथा गुणवान बना देती है। अतः मैं ऐसा अवसर क्यों छोड़ूँ यही व्यङ्ग्य है।

फिर कहता है कि मैं आपकी वह कथा जानता हूँ कि आपने पत्थरको तारा। यहाँ नाव तो तर जायगी और मैं मूर्ख बिना तरे रह जाऊँगा। मेरी दुहरी हानि होगी, नाव न रहनेसे इस लोकमें भी दरिद्र रह जाऊँगा और चरणरज न पानेसे उस लोकका सुख भी न मिलेगा। फिर कहता है कि मैं इससे अपने कुटुम्बका पालन करता हूँ, और कोई व्यापार मैं नहीं करता। भाव यह है कि आप तो चतुर हैं आप कोई ऐसा काम करेंगे नहीं जिसमें मेरे आश्रितोंको कष्ट हो। इसलिये जो आप पार जाना ही चाहते हों तो पैर धोनेकी आज्ञा दीजिए। व्यङ्ग्यार्थ यह है कि आप अच्छे आ फँसे हैं। आप पार जाना चाहते हों तो मुझे भी भवसागरसे पार होनेकी कुंजी देते जाइए। रामचरित-मानसकी यह व्यञ्जना समझाए बिना रामचरित-मानसके आध्यात्मिक पक्षका ज्ञान कराया ही नहीं जा सकता।

ऐसे ग्रन्थों तथा भक्ति और नीतिकी रचनाओंके शिक्षणमें तुलना-प्रणाली अवश्य प्रयोगमें लानी चाहिए।

७. समीक्षा-प्रणालीमें काव्यकी आलोचनाके सिद्धान्त बतला दिए जाते हैं, सहायक पुस्तकोंके नाम दे दिए जाते हैं और उनके अनुसार विद्यार्थी समष्टि रूपसे एक कविकी रचनाओंकी अथवा उसकी किसी कविताकी समीक्षा करते हैं अर्थात् उसकी भाषा-शैली और भाव-व्यञ्जना-शैलीकी विशेषताओंका अध्ययन करते हैं और उसका रस या आनन्द लेते हैं। इसमें प्रश्नोत्तर-विधि तथा तुलना-विधिका आश्रय लेकर अध्यापक भी कक्षामें समीक्षा करा सकता है।

यह प्रणाली ऊँची कक्षाओंमें ही प्रयोगमें लानी चाहिए जब विद्यार्थियोंको समीक्षाके सिद्धान्तोंका पर्याप्त परिचय हो चुका हो।

पद्य तथा कविता पढ़ानेकी प्रणालियोंका विवेचन कर चुकने पर पद्य तथा कविताके पाठन-क्रमपर भी ध्यान देना उचित होगा। पाठनक्रम इस प्रकार होना चाहिए—

१. प्रस्तावना—यदि केवल पद्य हो तो उसके विषयका परिचय उसी प्रकार दिया जाय जिस प्रकार गद्यके किसी पाठका। इसका पीछे विवेचन हो चुका है। यदि प्रबन्ध-काव्य अथवा मुक्तक कविता हो तो कविका सामान्य परिचय उसकी शैली, उसके सिद्धान्त, उद्देश्य तथा उसकी विशेषताओंका संक्षिप्त परिचय देना चाहिए।

२. विषय-प्रवेश—परिचयके पश्चात् अध्यापकको चाहिए कि वह लयसहित (रागसहित नहीं) तथा भावयुक्त पाठ करे। पाठ करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि एक दिनके पढ़ाने योग्य पूरी कविता एक साथ पढ़नी चाहिए। वाणीके उतार-चढ़ाव तथा भाव-प्रदर्शन द्वारा कविता-पाठ ऐसा सजीव होना चाहिए कि उसका अर्थ पढ़ते समय ही प्रकट हो जाय। कविता-पाठके समय विद्यार्थी अपने अध्यापककी ओर देखें पुस्तककी ओर नहीं। जब अध्यापक पढ़ चुके तो एक या दो सुरीले स्वरवाले विद्यार्थियोंसे अलग-अलग पढ़वाना चाहिए और यथासंभव एक-एक पंक्ति स्वयं पढ़कर अध्यापक उसकी सस्वर पुनरावृत्ति पूरी कक्षासे करावे।

३. आत्मीकरण—सस्वर पढ़ना समाप्त होनेके पश्चात् ऊपर दी हुई प्रणालियोंमेंसे उपयुक्त प्रणालीके द्वारा विस्तृत व्याख्या की जाय।

४. पुनरावृत्ति—उसका भाव आवृत्तिके लिये विद्यार्थियोंसे अलग अलग कहला लिया जाय। फिर सस्वर पाठ कराया जाय।

५. प्रयोग—विद्यार्थियोंसे कविता तथा अन्य पाठन-कालमें प्रयुक्त हुई तथा उदाहरण-स्वरूप दी हुई सूक्तियाँ तथा कविताओंको कंठाग्र करनेके लिये आदेश दिया जाय।

इसके अतिरिक्त कुछ और बातें हैं जो पद्य तथा कविताके अध्यापकको स्मरण रखनी चाहिएँ—

१. बेसुरे बालकोंसे कविता नहीं पढ़वानी चाहिए और यदि अध्यापक स्वयं बेसुरा हो तो उसे आदर्श पाठ स्वयं नहीं करना चाहिए, बालकोंसे कराना चाहिए।

२. श्यामपट्टका प्रयोग यथासंभव कम करना चाहिए।

३. प्रश्नोत्तर-विधिका कमसे कम प्रयोग हो।

अन्य शिक्षा-विधियोंका प्रयोग उसी प्रकार करना चाहिए जैसे गद्यमें किया जाता है और जिसकी व्याख्या पीछे की जा चुकी है।

१७

अलंकार, पिङ्गल तथा रसकी शिक्षा

अलंकार

शब्दकी शक्ति अपरिमित और असीम है। हमारे आचार्योंने इस शक्तिके धर्म पर ध्यान देकर इसके दो विभाग किए हैं। एक अभिधा कहलाती है दूसरी लक्षणा। एक ईश्वर-प्रदत्त अथवा स्वाभाविक है तो दूसरी मनुष्य द्वारा औपचारिक रूपसे उद्‌भावित। एकसे हमारी कुछ कह लेने, कुछ सुन लेनेकी आकांक्षाकी पूर्त्ति होती है तो दूसरीसे हमारी सौन्दर्य-वृत्ति की तृप्ति। हम कह लेने और सुन लेने मात्रसे सन्तुष्ट नहीं होते। हम किसी विशेष ढंगसे कहना भी चाहते हैं और सुनना भी। उद्देश्य वही हृदयकी सौन्दर्य्योन्मुखी वृत्तियोंका संतोष है। पर इन दोनों शब्द-शक्तियोंके साथ-साथ एक और सुकुमार वृत्ति चलती रहती है जो हमारे उद्देश्यको कुछ और सूक्ष्मतासे प्रकट करती है, इसे व्यञ्जना कहते हैं।

दोनों कहनेका तात्पर्य यह है कि वह सूक्ष्म, सुकुमार संकेत कभी अभिधासे प्राप्त हो जाता है और कभी लक्षणासे। कभी सीधी-सादी बातें भी हृदय पर मार्मिक प्रभाव डालनेमें समर्थ होती हैं और कभी वक्रतापूर्ण उक्तियाँ। इसीका सहारा लेकर मनुष्य-हृदयने अनेक उक्तियाँ निकालीं, निकालता रहता है, और निकालता रहेगा। इन्हींमेंसे कुछको रीति-ग्रन्थोंने अलङ्कार कह लिया है पर इन गिने-गिनाए अलंकारोंके बाहर भी चमत्कार सम्भव है और सहृदय कवियोंकी वाणीमें हमें स्थान-स्थान पर प्राप्त होता ही रहता है। इस आलंकारिक चमत्कारका आधार है वही लक्षणा या व्यञ्जना। रीति-ग्रन्थोंमें वर्णित सभी अलंकारोंकी भित्ति ये ही शब्द-शक्तियाँ हैं। मनुष्य अपनी बातको विदग्धतासे कहनेके लिये तथा अपने भावोंको चामत्कारिक रीतिसे व्यक्त करनेके लिये जिन सुकुमार शैलियोंका आश्रय ग्रहण करता है उन्हींको अलंकार करते हैं। विदग्धतासे कही गई कोई भी बात अलंकार कहला सकती है। अलंकारका शाब्दिक अर्थ भूषण है। "अलंक्रियतेऽनेन" जिस वस्तुसे शोभा बढ़ाई जाय उसीका नाम अलंकार है। अलंकार गद्यमें भी हो सकता है और पद्यमें भी।

बालकी खाल खींचनेवाले आचार्योंने सरस्वतीको सजानेके लिये सैकड़ों अलंकार गढ़ दिए। किन्तु अब समय बदल रहा है। अब मारवाड़ी स्त्रियोंकी भी आभूषण-प्रियता घट रही है। अतः अब भगवती भारतीके तनपर लदे हुए इन असंख्य अलंकारोंको कम करना ही अच्छा होगा।

ऐसा होनेसे ही कविता पुनः सप्राण होगी और विद्यार्थियों-का तो असीम उपकार होगा । जीवनमें जिनसे कभी काम पड़नेका नहीं ऐसे अलंकारोंको कंठस्थ करनेसे वे बचेंगे साथ ही अलंकार पढ़ानेवाले अध्यापकको भी यही उचित है कि वह अपने विद्यार्थियोंको अलंकारका नाम और उसकी परिभाषा कभी न रटावें। ऐसा करानेसे विद्यार्थीको उसमें अरुचि होती है। विद्यामन्दिरमें अरुचिका प्रवेश निषिद्ध है। विद्यार्थीके मस्तिष्कमें अलंकारोंके भेद-उपभेद भरनेकी कोई आवश्यकता नहीं। कविता पढ़ाते समय प्रधान अलंकार जहाँ आवें वहीं उनका परिचय करा दिया जाय तथा उदाहरण द्वारा लक्षण स्पष्ट कर दिए जायँ। अलंकारका इतना ही ज्ञान स्कूलोंके विद्यार्थियोंके लिये पर्याप्त है। हाँ, ऊँची कक्षाओंमें तथा कौलेजोंमें जो चाहे वे पढ़ें पढ़ावें।

पिङ्गल

जिस प्रकार भाव कविताका प्राण है और अलंकार उसकी शोभा बढ़ानेवाली वस्तु है उसी प्रकार छन्द उसका शरीर है। जिस प्रकार शरीर और प्राण अन्योन्याश्रित हैं, उसी प्रकार छन्द और भाव भी। अर्थात् जिस प्रकार शरीर नष्ट हो जाने पर प्राण निकल जाता है और प्राण निकल जाने पर शरीर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार उपयुक्त छन्दमें ढले बिना भाव वांछित प्रभाव उत्पन्न करनेमें असमर्थ हो जाते हैं तथा सुन्दर भावके अभावमें छन्द शिथिल पड़ जाता है। तात्पर्य यह है कि काव्य-कलामें छन्दका भी प्रमुख स्थान है और कविता पढ़ाते समय उसकी शिक्षा भी अवश्य देनी चाहिए।

परन्तु हमारे यहाँ इन दिनों जैसे अन्य विषयोंकी शिक्षामें शीघ्रता और असावधानीसे काम चलता किया जाता है वैसे ही छन्दकी शिक्षामें भी है। हमारे अध्यापक छन्दका नाम और उसका लक्षण बताकर ही अपने कर्त्तव्यकी इतिश्री और अपनी विद्वत्ताकी पराकाष्ठा मानने लगते हैं। पर यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो छन्दका नाम और उसके लक्षण जानकर ही विद्यार्थीको सन्तोष नहीं होता। छन्दोंकी ओर उसकी रुचि नहीं बढ़ती और वह केवल रटनेकी वस्तु समझ कर उससे भड़कने लगता है। छन्दोंका अध्ययन उसे भारस्वरूप ज्ञात होता है। पर यदि विद्यार्थीको सहृदयता-पूर्वक छन्दोंकी विशेषताएँ बतलाई जायँ तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह स्वतः छन्दःशास्त्रका अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करनेका प्रयत्न करने लगेगा।

हमारे यहाँ छन्दःशास्त्रका दूसरा नाम पिङ्गल है। पिङ्गल हमें छन्दोंका स्वरूप, तथा उनके लक्षण बतलानेके साथ साथ यह भी बतलाता है कि किस प्रकारके भावकी अभिव्यक्ति किस छन्दमें अधिक प्रभावोत्पादिनी होती है।

पिङ्गलमें जहाँ गणोंकी गिनती गिनाई गई है वहीं पर प्रत्येक गणका स्वरूप और उसका प्रभाव भी स्पष्ट कर दिया गया है। जैसे—

"मो भूमिः श्रियमातनोति यजलंवृद्धिर्रचाग्निर्मृतिं।
सो वायुः परदेश-दूरगमनं तव्योम शून्यं फलम्॥
जः सूर्यो रुजमाददातिविपुलं भेन्दुर्यशो निर्मलम्।
नो नाकश्च सुखप्रदः फलमिदं प्राहुर्गणानां बुधाः॥

अर्थात् मगणका देवता भूमि और फल लक्ष्मी-लाभ, यगणका देवता जल और फल प्रारब्धोदय, रगणका देवता अग्नि और फल मृत्यु, सगणका देवता वायु और फल विदेश-गमन, तगणका देवता आकाश और फल निष्फलता, जगणका देवता सूर्य्य और फल अत्यन्त रोग, भगणका देवता चन्द्र और फल कीर्त्ति-लाभ तथा नगणका देवता स्वर्ग और फल सुख है।

इसमें जहाँ तक फलका सम्बन्ध है वहाँ तक तो केवल हिन्दुओंके धार्मिक विश्वासका परिचय मिलता है। श्रद्धालुओंको तदनुसार फल भी मिल जाता होगा। इस वैज्ञानिक युगमें इसके सिवाय इस सम्बन्धमें और क्या कहा जाय। परन्तु देवताकी कल्पना छन्दका स्पष्ट स्वरूप निर्धारित करती है। जैसे मगणको ले लीजिए। मगणके तीनों वर्ण गुरु होते हैं। उनका स्वरूप 'मातारा' (SSS) स्थिरताका द्योतक है। 'मातारा मातारा'का उच्चारण करनेसे ही एक प्रकारकी गम्भीरता और स्थिरताका अनुभव होता है और यह गण यही प्रभाव उत्पन्न भी करता है। फिर पृथ्वीका प्रधान गुण क्षमा है अतः पिङ्गल मुनिने इस मगणके देवताका नाम पृथ्वी रक्खा क्योंकि इससे गुरुत्व और क्षमाका भाव प्रकट होता है। यगणका देवता जल कहा गया है क्योंकि इस गणका उच्चारण करनेसे ऐसा मालूम होता है जैसे तरंगें उठ-उठकर गिर रही हों। यमाता यमाता दो-चार बार कहनेसे ही इसका अनुभव हो सकता है।

यदि विद्यार्थियोंको इन विशेषताओंका परिचय प्राप्त हो जाय तो उनकी वृत्ति अपने आप छन्दःशास्त्रके अध्ययनकी

ओर उन्मुख होगी और वे छन्दोंको अनायास बाँधे हुए शब्द-समूह मात्र न समझेंगे।

इस सम्बन्धमें विद्यार्थियोंके लिये दूसरी ज्ञातव्य बात यह है कि उन्हें भाव-विशेषके अनुकूल छन्दोंका परिचय कराना चाहिए। उन्हें यह बतलाना चाहिए कि वीर रसकी कविता कवित्त और घनाक्षरी छन्दोंमें खिलती है। शृंगार और करुण रसकी कविताके लिये सबसे उपयुक्त छन्द सवैया है। रौद्र, भयानक और अद्‌भुत रसके लिये छप्पय उपयुक्त है। हमारे पुराने कवि इस बातका बहुत ध्यान रखते थे। संस्कृतका वैतालीय छन्द करुण रसकी अभिव्यक्तिके लिये परम उपयुक्त माना गया है। इसीलिये महाकवि कालिदासने विलापके प्रसंगोंमें बराबर इसीका प्रयोग किया है। रघुवंशमें इन्दुमतीकी मृत्युपर अज तथा कुमारसम्भवमें कामदेवके भस्म होनेपर रतिका विलाप इसी छन्दमें है।

हिन्दीके वर्त्तमान कवियोंमें पंडित अयोध्यासिंहजी उपाध्यायने ही इस ओर दृष्टिपात किया और अपने प्रियप्रवासकी रचनामें उन्होंने भावानुकूल छंदोंकी योजना की। दिवसका अवसान दिखाते हुए उन्होंने द्रुतविलम्बित छन्दका प्रयोग किया जिसकी प्रत्येक पंक्तिकी गति मात्रसे प्रतीत होता है मानो दिन धीरे-धीरे डूब रहा है। देखिए—

दिवसका अवसान समीप था।
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु शिखापर थी अब राजती।
कमलिनी-कुल-वल्लभकी प्रभा।

शब्दोंकी ध्वनिसे रसानुभूति करानेका उद्योग वीर-गाथाओंमें तो बराबर होता रहा परन्तु छन्दकी गतिसे भाव या रसका परिचय देनेका प्रयास बहुत कम हुआ है क्योंकि लोगोंकी संभवतः यही धारणा है कि किसी भी छंदमें किसी भी प्रकारकी रचना करनेसे कविता बन जायगी। अतः अध्यापकका यह कर्त्तव्य है कि कविता पढ़ानेके साथ ही छंदकी गतिका परिचय दे और यह बतलाता चले कि अमुक छन्द अमुक स्थानपर काव्य-रसकी अनुभूतिमें बाधक है या साधक। केवल मात्रिक या वर्णिक बताने तथा छंदके लक्षण-मात्र बतानेसे काम न चलेगा।

रस

यहाँ न तो इतना स्थान है और न इतनी आवश्यकता ही है कि हम रस तथा उसके अन्य अंगों तथा तत्त्वोंका विवेचन करें। इसका पूरा विवरण तो रीति-ग्रन्थोंमें प्राप्त हो ही जायगा। कथनीय बात यही है कि भारतीय काव्य-शास्त्रके आचार्योंने काव्यानंदको परमानंदका सहोदर माना है और इस आनन्दका आधार रस ह। यह रस किसमें, कैसे तथा कब उत्पन्न होता है इसका अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन आचार्योंने कर दिया है और इसी सिलसिलेमें उन्होंने नायक तथा नायिकाओंके भेद तथा उनके मनमें रहनेवाले भावोंका अत्यन्त विशद विश्लेषण कर दिया है। उसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दीके रीतिकालके कवियोंने अधिकतर रचनाएँ किसी विशेष नायक या नायिकाकी किसी विशेष अवस्थाको

लक्ष्य करके की हैं। हम पहले ही कह चुके हैं कि चौदह वर्षकी अवस्थावाले अर्थात् हाइ स्कूलके विद्यार्थीसे ऐसी कविताएँ दूर रखनी चाहिएँ। कुछ रचनाएँ वीरताके भावको जगानेवाली, आश्चर्यमें डालनेवाली तथा हँसी उत्पन्न करनेवाली होती हैं। ऐसी कविताओंमें कविने किस रसकी अवतारणा करनेकी सामग्री प्रस्तुत की है इसका स्पष्ट परिचय देना चाहिए अर्थात् उसके स्थायी भाव, आलम्बन-उद्दीपन अनुभाव तथा संचारी भावका ज्ञान करा देना चाहिए। किन्तु आलम्बन क्या होता है, अनुभावके क्या लक्षण हैं ये सब बतानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। कौलेजकी ऊँची कक्षाओंमें जहाँ रसका सांगोपांग अध्ययन अभीष्ट हो वहाँ विस्तारके साथ विशिष्ट रसका परिचय देनेवाली कविताकी व्याख्या कराई जा सकती है। प्रसंगवश यहाँ अध्यापकोंको एक बातसे सावधान कर देना चाहते हैं। प्रायः विद्यार्थियोंसे यह असंगत प्रश्न पूछा जाता है कि अमुक पद्यमें कौनसा रस है। पद्यमें कभी कोई रस नहीं होता। रस तो होता है पुरुष या स्त्रीके हृदयमें। पद्यमें तो किसी विशेष रसकी उत्पत्तिकी कथा या उसका वर्णन मात्र होता है अतः ऐसे प्रश्न न पूछे जाने चाहिएँ जो स्वतः भ्रमात्मक हों। अलंकार, पिङ्गल तथा रसकी शिक्षा देनेके संबंधमें इतना पर्य्याप्त है।

१८

काव्यमें रुचि उत्पन्न करनेके अन्य साधन

कविता-पाठ

कविता-पाठ, अंत्याक्षरी तथा समस्यापूर्त्ति आदिके सहयोगसे मातृभाषाकी पूर्ण शिक्षा दी जा सकती है। अन्यत्र कविताकी परिभाषा बतलाते हुए यह कहा गया है कि कविता ललित कला होनेके कारण हमारा मनोरञ्जन करनेके साथ-साथ हमारे मनोभावोंका परिष्कार भी करती है। वास्तविक शिक्षाका उद्देश्य भी सचमुच यही है। केवल लिखना-पढ़ना सिखा देनेसे ही शिक्षाका महान् उद्देश्य पूरा नहीं होता। उस शिक्षासे क्या लाभ जो हमारी उदात्त वृत्तियोंको उत्तेजन और प्रोत्साहन न दे सकी, जिससे मानवकी मानवता सजग न हुई, आदमीमें आदमियत न

आई। परिश्रम करने पर कुत्ते और तोते भी पढ़ना सीख लेते हैं। किसी उर्दू कविके कथनानुसार—

आदमीयत और शै है इल्म है कुछ और चीज़।
लाख तोतेको पढ़ाया फिर भी हैवाँ ही रहा॥

कहनेका तात्पर्य्य यह कि शिक्षाका एक महान् उद्देश्य आदमीको आदमी बनांना भी है। इधर कविताका भी उद्देश्य यही है। ऐसी अवस्थामें समान उद्देश्यवाली दो वस्तुएँ परस्पर एक दूसरेकी कितनी सहायता कर सकती हैं इसका पता तो अनुभव और विचार करनेसे ही लग सकता है। सुन्दर कविताका पारायण मनको प्रसन्न कर देता है। अवसरके अनुकूल कविताका उद्धरण जादूका काम करता पाया गया है। काव्य-रसमें ही यह शक्ति है कि बड़े बड़े पाषाण-हृदयोंको भी वह क्षण भरमें गला दे। दुर्धर्ष ईरानी दस्यु नादिरशाह जिस समय दिल्लीमें खूनकी होली खेल रहा था उस समय कविता ही उसे कुकृत्यसे विरत कर सकी थी। मोहम्मदशाह रँगीलेके वजीरने एक शेर सुनाकर उस पत्थरको पानी कर दिया—

'कसे न माँद कि दीगर बतेग़े नाज़ कुशी।'

इन पंक्तियोंने वह काम कर दिखाया जो बड़े बड़े राज़-नीति-विशारद न कर सके। इसके साथ ही पद्यात्मक सूक्तियोंमें जीवनके गम्भीर तत्त्व भी बराबर पाए जाते हैं। वृन्द और रहीमके दोहे जीवनकी मार्मिक अनुभूतियोंसे लबालब भरे हैं। उनका अवसरोपयोगी प्रयोग लोगोंकी दृष्टिमें प्रयोक्ताको कुछ ऊँचा उठा देता है। उपयुक्त पद्य

दृष्टान्त रूपसे उद्धृत होकर निरर्थकसे निरर्थक वक्तव्यको भी बल देते हैं। शिक्षित और अशिक्षित दोनों पर उनका समान प्रभाव पड़ता है। सभाचातुर्य्य तो कविताका आश्रय लिए बिना आ ही नहीं सकता। व्यावहारिक जीवनमें हाजिर-जवाबीका स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। कविताका अध्ययन और अभ्यास इस क्षेत्रमें कमाल करता है। अशिक्षित लोग भी कविता, पद्य, सूक्ति, दृष्टान्त आदि रटकर समाजमें खासा सम्मानपूर्ण स्थान बना लेते हैं। उनके द्वारा लोगोंका मनोरंजन होता है और लोगों द्वारा उनका अनुरंजन। ऐसी स्थितिमें विद्यार्थियोंको कविताका अभ्यास पर्याप्त मात्रामें कराना चाहिए।

कवितामें रुचि उत्पन्न करने और अभ्यास करानेके चार साधन हैं—कवितापाठ, अंत्याक्षरी-प्रतियोगिता, समस्यापूर्त्ति और कवि-सम्मेलन।

सस्वर कविता-पाठ बहुत सुन्दर साधन है। इससे पढ़ने-वालों एवं सुननेवालों दोनोंका मन प्रफुल्लित होता है। उतने समयके लिये किसी प्रकारकी चिन्ता पास नहीं फटकती। प्राचीन समयसे लेकर कुछ दिन पहले तक कविसमाजमें पढंत और गढंत दोनों प्रथाएँ प्रचलित थीं। पढंतमें कविगण प्राचीन कवियोंकी कविताका पाठ किया करते थे और गढंतमें स्वरचित कविताओंका। किसी रस-विशेषकी कविता जब चली तब उसकी धारा जल्दी न टूटती थी। सहृदय समाज उसमें डुबकियाँ लगाता था और तृप्त होता था। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रके समकालीन काशीस्थ गोपालमन्दिरके

अध्यक्ष गोस्वामी जीवनलालजी महाराजके समय तक उनके द्वारा महीनेमें प्रायः दो बार ऐसे समाजोंका आयोजन हुआ करता था, जिसमें भरतपुर-नरेश जैसे संभ्रान्त व्यक्ति और लछिराम तथा बेनी जैसे प्रौढ़ कवि भाग लिया करते थे। परन्तु आधुनिक कविसम्मेलनोंने कई अच्छी बातोंके साथ-साथ पढंत प्रथाका भी बहिष्कार कर दिया है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि बाबा तुलसीदासके अनुसार, निज कवित्त केहि लाग न नीका। सरस होइ अथवा अति फीका॥ सभी तुक्कड़ रोकर, गाकर, नाचकर अपनी ही तुकबन्दियोंकी पताका उड़ानेमें व्यस्त हो उठे हैं। ऐसी स्थितिमें यदि स्वरचित कविताओंके साथ-साथ पुराने सत्कवियोंके कविता-पाठका भी आयोजन कराया जाय तो कविसम्मेलनोंका भी महत्त्व बढ़े और प्राचीन साहित्यका उद्धार होनेके साथ-साथ लोकरुचि भी परिमार्जित हो।

अन्त्याक्षरी

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है पढ़ंत-प्रथा उठ जानेपर भी हमारी पाठशालाओंमें उसे अंत्याक्षरीके रूपमें स्थान दिया गया है। बालकोंमें स्पर्द्धाकी मात्रा बहुत होती है। उनकी इस प्रवृत्तिसे लाभ उठाकर अंत्याक्षरी-विधान द्वारा उन्हें कविताएँ कंठस्थ करानेका सदुद्योग हो रहा है। इसमें बालकोंके दो दल बना दिए जाते हैं। एक दलका सदस्य किसी कविताका पाठ करता है। पाठ समाप्त होनेपर दूसरे दलका कोई सदस्य ऐसी कविता पढ़ता है जिसका प्रथम अक्षर पूर्वपठित कविताका अन्तिम अक्षर होता है।

इस प्रकार उभय दलके लोग बराबर कविता पढ़ते चलते हैं। बीचमें यदि कोई दल मनोनीत अक्षरसे कविता सुनानेमें असमर्थ हो जाता है तब दूसरे दलवाले उसी अक्षरसे प्रारम्भ होनेवाली कविता सुनाते हैं और बाजी मार ले जाते हैं। अंत्याक्षरी-प्रतियोगिताके कारण इसके लिये कुछ विशेष नियम भी बन गए हैं। ढ, ण आदि अक्षरोंके लिये छूट दे दी जाती है क्योंकि इनसे प्रारम्भ होनेवाले पद्य भाषामें कम हैं। इसी प्रकार बालकोंके चरित्र-निर्माणकी दृष्टिसे अधिक शृंगार-रसात्मक कविताओंका भी निषेध कर दिया जाता है। साथ ही दोहे, सोरठे जैसे छोटे छन्दोंके पाठकी भी आज्ञा नहीं दी जाती। इसका कारण यही है कि अधिक प्रतिभा-संपन्न बालक तुरत ही दोहे या सोरठेका ढाँचा बनाकर खड़ा कर लेता है। इस सम्बन्धमें यदि किसी छन्द-विशेष पर रुकावट न डालकर केवल कोरे नीरस पद्योंपर रुकावट डाली जाय तो विद्यार्थियोंको अधिक लाभ होनेकी सम्भावना है। फिर भी अंत्याक्षरी-प्रतियोगिताके कारण एक दूसरे पर विजय पानेकी कामनासे विद्यार्थी अनायास ही कविताएँ याद करनेमें उत्साह प्रकट करते हैं। यदि अध्यापक विद्यार्थीको कविताके चुनावमें आदेश और सहायता दें तो इसमें सन्देह नहीं कि विद्यार्थियोंका असीम उपकार हो।

समस्यापूर्त्ति

प्राचीन कालसे ही समस्यापूर्त्ति कवि-प्रतिभाके परीक्षाकी बात एवं वस्तु रही है। काव्यांगोंका सम्यक् अध्ययन कर लेनेके बाद जब कविगण राज-दरबारों और धनी-मानियोंके

द्वार खटखटाते थे तब उनके स्वागतके लिये कुछ अनगढ़ समस्याएँ पहलेसे तैयार रख ली जातीं थीं। यदि कविजीने उसकी सद्यः सुन्दर पूर्त्ति कर दी तब तो पूछना ही क्या है, कविजीके पौ बारह हो जाते थे। जब तक आश्रय-दाता जीवित रहा और कविजीसे उसकी पटरी बैठती रही तब तक उन्हें किसी प्रकारकी आर्थिक चिन्ता न करनी पड़ती थी। किन्तु यदि कविजी समस्यापूर्त्तिमें असफल रहे तो उन्हें तुरत नारियल-सुपारी थमाकर धता बताया जाता था। संस्कृत कालकी यह प्रथा हिन्दीमें बहुत दिनों तक चलती रही। अब भी कहीं-कहीं कविसम्मेलनोंमें समस्याएँ दी जाती हैं। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रके कुछ समय बाद तक हिन्दी-साहित्य-जगत्में समस्यापूर्त्तियोंकी धूम थी। कविवर लछिरामका तो यहाँ तक दावा था कि—

"दीजिए समस्या मोहिं, कलम रुकै तौ कर कलम कराइए"

परन्तु मानी कवियोंने एक स्वरसे समस्यापूर्त्तिको मुक्त प्रतिभाके लिये बन्धनस्वरूप घोषित कर उसका सर्वथा बहिष्कार कर दिया है। हम इस बहिष्कारके औचित्यको कुछ अंश तक मानते हुए लाटानुप्रासमें कहना चाहते हैं कि यदि प्रतिभा है तो समस्यापूर्त्ति क्या, यदि प्रतिभा नहीं तो समस्यापूर्त्ति क्या। अर्थात् वास्तविक प्रतिभाके लिये कहीं कोई बन्धन नहीं है। प्रतिभावान कवि सुन्दरसे सुन्दर समस्यापूर्त्ति भी कर सकता है। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि समस्यापूर्त्ति साधारणतया काव्याभ्यासियोंके लिये ही है और इस दृष्टिसे विद्यार्थियोंको पहेली न बुझवाकर यदि

समस्यापूर्त्तिका थोड़ा बहुत अभ्यास कराया जाय तो कविताके प्रति उनका प्रेम भी बढ़ेगा और उनमेंसे दो-चार किसी दिन वास्तविक कवि भी हो सकेंगे।

कवि-सम्मेलन

अब कवि-सम्मेलनों पर आइए। हमारे यहाँ आजकल कवि-सम्मेलनोंका जो रूप प्रचलित है वह उर्दू मुशायरोंका अनुकरण जान पड़ता है। संस्कृतकाल और मध्यकालमें दो कवियोंको भिड़ाकर उनका चमत्कार देखनेकी प्रथा भी प्रचलित थी। जिस प्रकार आजकल पंडितोंमें शास्त्रार्थ होता है उसी प्रकार राजदरबारोंमें कविगण कविता-विषयक शास्त्रार्थ किया करते थे। रस, अलंकार आदिके सिद्धान्तों पर वे वादविवादका खंडन-मंडन किया करते थे। पर कवि-सम्मेलनोंका जो वर्त्तमान रूप है वह उस समय कदापि न था। वर्तमान कवि-सम्मेलनोंमें सबसे खटकनेवाली वस्तु यही है कि वहाँ—

"खटियाका टूटा बाध है। मेरा क्या अपराध है।"

—जैसी तुकबन्दियोंसे लेकर वास्तविक कविताओं तक अंधेर-नगरीवाले भावसे सुननेको मिलती हैं। तीन-चार घण्टे समय रहता है, और तीस-चालीस पढ़नेवाले। परिणाम यह होता है कि सफलता काव्यकलासे हटकर गलेबाजीमें आ जाती है। प्रत्येक कविके पक्षपाती व्यर्थ ही आसमान सिर पर उठा लेते हैं और ऐसा हल्ला होता है कि कविता सुंदरीको मैदान खाली कर देना पड़ता है। अधि-कांश कविताओंका भाव एकदम अस्पष्ट होता है। भावका

रहस्यवाद भाषापर उतर आता है और कविगण जब एक-एक पंक्ति पर ब्रह्म उतारने लगते हैं तब उसका वास्तविक अर्थ उन्हींकी समझमें नहीं आता। श्रोता बेचारे तो कविता खाक समझते हैं, हाँ, गलेबाजीपर मुग्ध होकर बीच-बीचमें वाह-वाह कर दिया करते हैं। दूसरी ओर कुछ कविताएँ इतनी स्पष्ट होती हैं कि श्रोता यह विचार करने लगता है कि यह गद्य है या पद्य। इसके साथ ही वर्त्तमान कवि सम्मेलनोंमें एक प्रकारकी निर्वसन कविताएँ भी सुननेमें आती हैं जिन्हें सुनकर स्त्रियोंके कर्णमूल और विचारशील पुरुषोंकी आँखे लाल हो जाती हैं, पर यह साहस किसीका नहीं होता कि कविजीके गाल लाल कर दें। हिन्दीके ये वाममार्गी कवि नायिका-भेदवाले कवियोंके भी कान काट लेते हैं। इन्हें स्कूलोंसे दूर ही रखना चाहिए।

इन सब बातों पर विचार करते हुए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि इन कवि-सम्मेलनोंसे न तो जनताका लाभ है और न विद्यार्थियोंका। इनके स्थान पर स्कूलोंमें उत्कृष्ट कवियोंको निमन्त्रित कर उनके कविता-पाठका आयोजन कराना चाहिए और विद्यार्थी-कवियोंको भी उसमें अपनी रचना सुनानेकी अनुमति देनी चाहिए जिससे उनका कवितामें प्रेम बढ़े।

१९
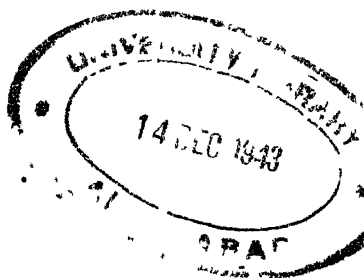
नाटक पढ़ानेके उद्देश्य तथा उसकी शिक्षण-विधि

"अवस्थानुकृतिर्नाट्यम् ।"

महामुनि नाट्याचार्य भरतके मतानुसार अवस्थाओंके अनुकरणको नाटक कहते हैं। अवस्थासे तात्पर्य है मानव-जीवनकी वे विभिन्न परिस्थितियाँ जिनमेंसे होकर मनुष्यको अपनी नौका खेनी पड़ती है। मनुष्य ही राजा होता है, वही रंक, वही वीर, वही कायर। मनुष्य ही स्वामी और नौकर दोनों होता है। मनुष्य ही न्यायाधीशकी कुरसी पर बैठता है और उसीके आज्ञानुसार मनुष्य ही जेलकी चक्की पीसता है, सजा काटता है और फाँसी पड़ता है। इन्हीं मानव-जीवनकी घटनाओंके व्यवस्थित तथा नियमित अनुकरणको नाटक कहते हैं। हम जो नहीं हैं वही बनकर

जब हम अपनी वेश-भूषा, वाणी और आचरणसे दूसरोंको अपनी आरोपित अवस्थाका विश्वास दिला देते हैं और वह जब असलको नकल और नकलको असल समझने लगता है, तभी हमारा अभिनय सफल माना जाता है। दर्शकको केवल धोखेमें डालनेसे नाट्यकलाके उद्देश्यकी पूर्त्ति नहीं होती। नाट्यकलाकी चरम सफलता तब है जब दर्शकका धोखा विश्वास बन जाय।

यद्यपि हमारे पूर्वजोंको नाट्यकलाकी उपयोगिताका पूरा-पूरा पता था और उन्होंने अपने अध्यवसायसे इस कलाको बहुत अधिक उन्नत अवस्थामें पहुँचाया तथापि हिन्दू-शासनके साथ-साथ इस कलाका भी विनाश हो गया।

इधर अँगरेजी शासन-कालमें इस कलाका पुनर्विकाश भली घड़ी नहीं हुआ। शकुन्तला लिखनेवाली जाति इन्दर-सभा और गुल-बकावलीसे संतुष्ट होने लगी। परिणाम यह हुआ कि हम नाट्यकलाका उद्देश्य भूल गए, उसका उपयोग भूल गए तथा शिक्षात्मक प्रयोग भूल गए। किन्तु अब वह समय नहीं रहा। नाटक केवल तमाशेकी चीज न रहकर हमारी शिक्षामें भी प्रमुख भाग लेनेकी योग्यताका दावा करने लगा है।

सर्व-प्रथम यह विचार करना आवश्यक है कि स्कूलोंमें नाटक पढ़ानेके क्या उद्देश्य हैं। नाटक-शिक्षाके तीन उद्देश्य हैं।

१. अवसरके अनुकूल आचरण करना सिखाना।

२. मानव-स्वभाव और मानव-चरित्रका अध्ययन कराना।

३. सम्यक् रीतिसे उच्चारण करने, बोलने, अभिनय करने

तथा भावोंको व्यक्त करनेकी कलाका ज्ञान कराना । तीनों उद्देश्योंकी पूर्त्तिसे विद्यार्थीको पाँच लाभ होते हैं—

१—उनका भाषा-ज्ञान बढ़ता है। उन्हें अवसरके उपयुक्त भाषा प्रयोग करनेका ढङ्ग आता है । किस परिस्थितिमें, किस प्रकारके व्यक्तिसे, किस प्रकारकी बातें करनेसे कैसा प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है इस बातका ज्ञान हो जाता है। नाटकमें जीवनकी सभी परिस्थितियोंका अनुकरण होता है, अतः विद्यार्थी यह ज्ञान प्राप्त कर सकता है कि अमुक प्रकार-का संभाषण विपत्तिमें डाल सकता है या कार्य्य सिद्ध कर सकता है। उन्हें पद तथा मर्य्यादाके अनुसार सम्बोधित करनेका ज्ञान भी नाट्यकलाकी शिक्षा द्वारा आ जाता है। माँ, बाप, भाई तथा परिवारके लोगोंको निर्देश करनेवाले शब्दोंको हम जिस अनुकरणवाली रीतिसे सीखते हैं वही रीति हमें, राजा, महाराजा, उच्चपदाधिकारी तथा अन्य लोगोंको निर्देश किए जानेवाले शब्दों और ढंगोंकी भी शिक्षा देती है। विकासोन्मुख भाषा होनेके कारण हिन्दीमें अभी इस प्रकारके संबोधन निश्चित नहीं हुए हैं पर संस्कृत जैसी पूर्णता-प्राप्त भाषाओंमें, निर्देशक, निर्दिष्ट और निर्देश-वचन सुनिश्चित हैं। जैसे—मुनि, सखी, दासी, चेटी आदिके लिये क्रमशः भगवन्, हला, हंजे, हंडे, आदि।

२—नाटकके द्वारा उन्हें लौकिक और घरेलू आचार-व्यवहार आदिकी सम्यक् शिक्षा मिलती है। राजदरबारके दृश्यका अभिनय उन्हें यह सिखाता है कि ऐसे स्थलों पर किस प्रकार शील-व्यवहार बरतना चाहिए। नाटकोंमें

हम इस प्रकारके विशेष दृश्योंकी अवतारणा कर सभा-समिति विषयक अनुशासनकी शिक्षा भली-भाँति दे सकते हैं। हमारे यहाँ उत्तर भारतमें प्रति वर्ष रामलीलाके नामसे नाटकका "नाट्य" रचा जाता है। सब जगह मिलाकर करोड़ों मनुष्य, स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध और वयस्क रामलीला देखते हैं और निःसन्देह उनमेंसे अनेक घरेलू आचार-व्यवहारकी आदर्श शिक्षा पाते हैं जिसके संस्कारसे अभी तक हिन्दू घरोंमें सीता, लक्ष्मण और भरतकी कमी नहीं है।

३—नाटकों द्वारा वे यह भी सीखते हैं कि किसी गम्भीर परिस्थितिको किस प्रकार हलकी करनेके लिये साधन जुटाने चाहिएँ अर्थात् नाटकसे व्यवहार-कुशलता आ जाती है। जीवनमें ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब कि गम्भीरसे गम्भीर बात चतुरतासे अनायास ही उड़ाई जा सकती है।

४—विभिन्न प्रकारके मनुष्योंकी गतिविधियोंको नाटकमें देखकर तथा उनका मनोवैज्ञानिक अध्ययन करके विद्यार्थी अपने समाजके मनुष्योंको पहचाननेके योग्य हो जाते हैं कुटिल व्यक्तियोंसे किस प्रकार अपनी तथा समाजकी रक्षा करनी चाहिए तथा शिष्ट पुरुषोंसे किस प्रकार सम्पर्क बढ़ाना चाहिए इसका ज्ञान हो जाता है।

५—नाटककी शिक्षा विद्यार्थियोंको सार्वजनिक वक्ता तथा सार्वजनिक जीवनमें सफल बना सकती है। उन्हें इतनी शक्ति दे देती है कि वे जनसमूहको जब चाहे हँसा दें, जब चाहे रुला दें।

पाठन-प्रणाली

इसके बाद यह प्रश्न उठता है कि नाटक किस प्रकार पढ़ाया जाय। नाटक पढ़ानेकी चार रीतियाँ हैं।

१—प्रयोग-प्रणाली—अर्थात् नियमित रूपसे रंगमंच पर अभिनय-प्रयोग-द्वारा नाटकका दृश्य ज्ञान कराया जाय।

२—आदर्श नाट्य-प्रणाली—अर्थात् नाटकके सभी चरित्रोंका अभिनय अध्यापक स्वयं ही करे। वह नाटकको इस प्रकार कक्षामें पढ़े कि प्रत्येक चरित्रकी वाणी तथा उसके भाव आदिका आभास उसके उच्चारणकी अनेक-रूपतासे मिलता जाय। अर्थात् अध्यापक शब्दोंका अर्थ न करे बल्कि नाटक-गत संवादोंके उचित वाचिक तथा आंगिक अभिनयके द्वारा क्रोध, प्रेम, घृणा आदि भावोंका नाट्य करे।

३—कक्षाभिनय-प्रणाली—अर्थात् कक्षाके विद्यार्थियोंको नाटकमें आए हुए चरित्रोंकी भूमिका दे दी जाय। उनसे कहा जाय कि तुम अमुक पात्र हो और तुम अमुक। इस प्रकार जिस विद्यार्थीका जो चरित्र निर्धारित किया गया हो वही उस चरित्रके संवादको भावपूर्वक पढ़े तथा तदनुकूल अभिनय करे।

४—व्याख्या-प्रणाली—अर्थात् कथावस्तुका निर्माण, चरित्र-चित्रण, विचारोंकी सुन्दरता, पात्रोंके चरित्रोंके विश्लेषण, भाषाके प्रयोग आदि पर प्रश्न करके नाटककी विशेषताएँ बताई जायँ। इन्हीं विषयोंपर दृश्यकी पुनरावृत्ति करते समय प्रश्न भी किए जायँ।

नाटकका पाठन-क्रम

पाठ्य-ग्रन्थमें निर्धारित संवादों तथा नाटकोंको कक्षामें पढ़ानेके लिये यह चाहिए कि एक घंटेमें पढ़ानेके लिये एक अङ्क, एक दृश्य या एक पूरा संवाद लिया जाय जो उतने समयमें पढ़ाया जा सके। उसे इस क्रमसे पढ़ाना चाहिए।

१ परिचय—नाटककारका परिचय दिया जाय किन्तु गद्यपाठके विषयके परिचयके समान नाटक या संवादके विषयका परिचय बिलकुल न दिया जाय अन्यथा कथाका कुतूहल नष्ट हो जायगा और उसके साथ ही नाटक भी अधमरा हो जायगा।

२. विषय-प्रवेश—अध्यापक उस दिनके निर्दिष्ट पाठ्य अंक या दृश्यको इस प्रकार पढ़े मानो वह रंगमंच पर खड़ा हुआ सब पात्रोंके पाठ कह रहा हो। यह ध्यान रहे कि पढ़ते समय केवल वाचिक तथा सात्त्विक अभिनय तो हो अर्थात् वाणीके उतार-चढ़ावसे विभिन्न भाव प्रकट होते चलें किन्तु आंगिक अभिनय न हो अर्थात् हाथ पैर न चलें।

३. अनुकरण—यह दो प्रकारसे हो सकता है। एक तो कक्षाभिनय-प्रणालीसे अर्थात् कक्षाके विद्यार्थियोंमेंसे नाटकके पात्रोंकी संख्याके अनुसार छाँट ले और फिर उनको भिन्न-भिन्न पात्रोंकी भूमिका देकर उनसे उन उन पात्रोंके संवाद कहलवावें।

दूसरे भाव-प्रकाशन-प्रणाली द्वारा अर्थात् स्वयं अध्यापक पुस्तक लेकर या स्मृतिसे पूरे दृश्यका आंगिक, सात्त्विक

तथा वाचिक अभिनय करे या ऐसा कर सकता है कि एक विद्यार्थी पढ़ता जाय और अध्यापक उसके आंगिक तथा सात्विक (भावोंका) नाट्य करे।

४. आवृत्ति—दृश्यका अभिनय हो जानेके पश्चात् अध्यापकको चाहिए कि इस प्रकारके प्रश्न करे—

(अ) कौनसा चरित्र अच्छा या बुरा है, क्यों। उनके गुण-अवगुण नाटककारने किस प्रकार प्रकट किए हैं।

(आ) किस पात्रकी बातें तुम्हें ठीक जँचती हैं। क्यों।

(इ) किस पात्रकी बातें रुचिकर प्रतीत होती हैं। क्यों।

(ई) इस दृश्यमें आई हुई घटनाओंका अमुक पात्र या पात्रों तथा कथा पर क्या प्रभाव होगा। तात्पर्य यह है कि प्रश्न ऐसे हों जिनसे चरित्र-चित्रणकी मीमांसा हो, कथाके प्रसारका ज्ञान हो, कल्पनाशक्ति तथा विवेचना-शक्तिकी वृद्धि हो। इसी अवस्थामें छात्रोंसे यह भी पूछा जा सकता है कि छोटों, बड़ों, राजाओं आदिसे किस प्रकार बातें करनी चाहिएँ अथवा अमुक परिस्थितिमें अमुक पात्रने अमुक प्रकारका व्यवहार किया, तुम होते तो क्या करते, इत्यादि। अर्थात् उस दृश्यसे जो व्यावहारिक शिक्षा दी जा सके उसका स्पष्ट विधान करना चाहिए।

५. ज्ञातव्य—यदि नाटक या संवादके विषयमें अध्यापक कुछ ऐतिहासिक बातें बताना चाहे या भाषाके दोषगुण बताना चाहे अथवा अन्य विशेष बातें बताना चाहे तो उसे अन्तमें बता देनी चाहिए। ये बातें बीचमें लाकर नहीं डालनी चाहिएँ।

वास्तवमें नाटक-शिक्षाकी सर्वश्रेष्ठ प्रणाली तो यह है कि उसका रंगमंच पर अभिनय किया जाय। उसके सब तत्त्व छात्र स्वयं देखकर जान लेंगे या उसके आधार पर ये तत्त्व सरलतासे सिखाए जा सकेंगे।

कुछ लोग पूछेंगे कि नाटकमें आए हुए गीतोंको कक्षामें कैसे पढ़ावें। इस संबंधमें यह स्मरण रखना चाहिए कि गीत आदिको कविताके समान अलग पढ़ाना चाहिए और यदि कोई गद्यांश कठिन हो तो उसे भी गद्यके समान अलग पहले पढ़ा देना चाहिए। नाटक पढ़ानेके समय अर्थ, व्युत्पत्ति, व्याख्या आदिकी छायाका भी स्पर्श न होने देना चाहिए।

अभी तक किसी भी शिक्षा-शास्त्रीने नाटक या संवादकी शिक्षाका विधान अपनी शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तकोंमें नहीं दिया है। यहाँ तक कि अँगरेजी पाठ्य-प्रणालीके ग्रन्थोंमें भी इने गिने ग्रन्थ हैं जिनमें नाटक-शिक्षणका विधान है। नाटक-शिक्षाका क्रम हिन्दीमें अव्यवस्थित होनेके कारण ही हमने यह प्रकरण यहाँ दे दिया है।

२०

अनुवाद-शिक्षाके उद्देश्य तथा उसकी व्यवस्था

किसी भाषामें व्यक्त भावों और विचारोंको दूसरी भाषामें व्यक्त करनेकी क्रिया अनुवाद कहलाती है। यद्यपि कुछ लोग भ्रमवश मौलिक रचनाकी अपेक्षा अनुवाद-कार्यको अत्यन्त सरल समझते हैं तथापि तथ्य इसका बिलकुल उलटा है। मौलिक रचनामें अपने विचार अपनी भाषामें अनायास ही व्यक्त किए जा सकते हैं परन्तु दूसरी भाषामें व्यक्त दूसरेका भाव अपनी भाषा या अन्य भाषामें ठीक-ठीक प्रकट करना बड़ा ही कठिन काम है।

शिक्षित व्यक्तियोंको अपने जीवनमें अनुवादकी आवश्यकता बराबर पड़ा करती है। इसलिये हमारे शिक्षा-क्रममें अनुवाद-शिक्षाकी सुव्यवस्थाका होना आवश्यक है।

अनुवादके तीन उद्देश्य होते हैं।

१—दूसरी भाषाके साहित्यसे अपनी भाषाके साहित्यको समृद्ध करना। अपना साहित्य तभी पूर्णता प्राप्त कर सकता है जब अन्य भाषाओंकी साहित्यिक गति-विधिका परिचय अपने यहाँके लोगोंको बराबर मिलता रहे।

२—अन्य भाषाओंकी शैलियों, मुहावरों आदिका ज्ञान प्राप्त करना।

३—विचार-विनिमयकी योग्यता उत्पन्न करना।

अपने यहाँ शिक्षा-व्यवस्था बेढंगी होनेके कारण स्वयं अपनी ही मातृभाषामें न तो रुचि ही उत्पन्न होती है और न सम्यक् योग्यता ही। यहाँ तीन-चार भाषाएँ जाननेवाला व्यक्ति अजायबघरकी चीज हो जाता है। पर विदेशोंमें ऐसे ऐसे व्यक्ति हैं जो सौ-डेढ़ सौ भाषाओंके जानकार होते हुए भी नित्य नई भाषा सीखनेका उद्योग करते ही रहते हैं। साधारण शिक्षा-प्राप्त अँगरेज भी अपनी मातृभाषा अँगरेजीके अतिरिक्त कमसे कम यूरोपकी दो-चार भाषाओंको जानना आवश्यक समझता है। हिन्दी भाषा-भाषी शिक्षित व्यक्ति तथा हिन्दीके अध्यापकको भी मातृभाषाके अतिरिक्त कमसे कम तीन भाषाएँ जाननी ही चाहिएँ। राजभाषा होनेके कारण अँगरेजीका ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य्य है। इसके अभावमें हमारे दैनिक व्यवहारमें भी अड़चन पड़ सकती है। इसके साथ ही संस्कृतकी जानकारी अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि संस्कृत हमारी सांस्कृतिक भाषा है। जन्मसे मृत्यु तक हमारे सभी धार्मिक संस्कार संस्कृतमें होते हैं। संध्याके

संकल्प और श्रीसत्यनारायणकी कथासे लेकर राज्याभिषेक और अश्वमेध तककी विधियाँ संस्कृतमें ही हैं। हमारी मातृभाषाके ६४ प्रतिशत शब्द या तो संस्कृत तत्सम हैं या तद्भव। हमारा सांस्कृतिक इतिहास भी संस्कृतकी ही पिटारीमें बन्द है। इसलिये संस्कृत जाने बिना हिन्दीके अध्यापककी शिक्षा कभी पूर्ण नहीं कहला सकती। इसके पश्चात् तीसरा स्थान उर्दूका है। उर्दू स्वतन्त्र भाषा नहीं बल्कि हिन्दीकी विभाषा है और वर्त्तमान नागरी पर उसका बड़ा प्रभाव पड़ा है। उर्दू गद्य अत्यन्त प्रौढ़ और प्रांजल है। मुहावरोंकी नाड़ी उर्दूवालोंने ठीक पहिचानी है। 'ज़बानकी सफ़ाई उर्दूकी अपनी चीज़ है।' उर्दूके द्वारसे सैकड़ों फ़ारसी-अरबीके शब्द हिन्दीमें पैठ गए हैं। बड़े घरकी बेटी हिन्दीने उन्हें लाड़-प्यारसे पाला है और अपना लिया है अतः हिन्दीके अध्यापकको उर्दूका ज्ञान भी प्राप्त करना चाहिए और उर्दू-साहित्यकी सुन्दरता तथा उसके साहित्यको भली-भाँति आत्मसात् करनेका जतन करना चाहिए।

अपनी भाषाके साथ दूसरी भाषाकी शिक्षा आरंभ होते ही अनुवाद-शिक्षाका काम आरंभ हो जाता है और यही होना भी चाहिए। पर हमारे यहाँ अनुवाद सिखानेका प्रचलित ढंग बड़ा ही दोषपूर्ण है। हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तोंके स्कूलोंमें हिन्दी-अँगरेजी अनुवाद तीसरे दर्जेसे आरम्भ कराया जाता है किन्तु अँगरेजीसे हिन्दीमें तो अनुवाद होता ही नहीं।

अनुवादका अभ्यास तीन प्रकारसे कराया जा सकता है। सर्व प्रथम दुभाषिया शैलीसे। इस पद्धतिमें कोई कुछ

कहता चले और एक व्यक्ति उसके वाक्योंका बराबर दूसरी भाषामें अनुवाद करता चले। इस पद्धतिका आश्रय ग्रहण करनेसे जल्दी जल्दी अनुवाद करनेकी योग्यता उत्पन्न होती है। दूसरी शैलीमें पुस्तक द्वारा अनुवादका अभ्यास कराया जाता है। यही पुस्तक-पद्धति हमारी पाठशालाओंमें आज-कल प्रचलित है। अनुवाद सिखानेकी एक तीसरी पद्धति भी है जिसे तुलनात्मक पद्धति कहते हैं। मान लीजिए हमें अँगरेजीसे नागरीमें अनुवाद करना है तो विद्यार्थीको पहले नागरी अनुवाद दे देना चाहिए। जब वह उसे पढ़ ले तब उससे वह अँगरेजी अंश देकर अनुवाद करनेको कहना चाहिए।

अनुवाद करनेकी तीन शैलियाँ प्रचलित हैं। पहली शैली अविकल या शब्दशः अनुवादकी है। इसमें मक्षिका स्थाने मक्षिका न्यायसे शब्दोंके स्थानपर उसी अर्थका द्योतक दूसरी भाषाका शब्द रखते चलते हैं। इस शैलीकी जितनी निन्दा की जाय थोड़ी है। इसमें पग-पगपर अर्थके अनर्थ होनेकी संभावना रहती है। उदाहरणके लिये हिन्दीका एक वाक्य ले लीजिए—'वह बालक बहुत सीधा है उसे तंग मत करो।' यदि इसका शाब्दिक अँगरेजी अनुवाद करें तो यह होगा—'दैट ब्वाय इज़ वैरी स्ट्रेट, डोण्ट नैरो हिम' इसका क्या अर्थ होगा यह आप ही विचार करें। अतः यह शैली सर्वथा त्याज्य है। इसी प्रकार कुछ लोग छायानुवाद और मर्मानुवाद भी करते हैं। इसमें सर्व-प्रथम विचारणीय बात है कि छाया अथवा मर्मका अनुवाद

ही किस प्रकार होगा। यह तो एक प्रकारसे पाठकोंको ही नहीं बल्कि अपने आपको भी धोखा देना है। ये अनुवाद नहीं करते बल्कि उसका सारांश लिखते हैं इसीलिये अँगरेजी वाले कहते हैं कि 'अनुवादक वंचक होते हैं।' इस दृष्टिसे छायानुवाद भी भ्रष्ट वस्तु है। अनुवादका सबसे सुन्दर ढंग भावानुवाद है। अनुवादका उद्देश्य लेखककी भाषाका परिचय कराना नहीं बल्कि उसके भावोंसे पाठकोंको परिचित कराना होता है। इस शैलीके द्वारा क्लिष्ट वाक्योंका सरल अनुवाद प्रस्तुत किया जा सकता है। बाणभट्टकी कादम्बरी ऐसी समास-बहुला भाषामें है कि एक-एक वाक्य तीन-तीन पन्नों तक चले गए हैं। उसके इसी बीहड़पनको देखकर किसी अँगरेज आलोचकनें लिखा है कि कादम्बरी एक बीहड़ वनके समान है। उसे कितना ही काटा और छाँटा क्यों न जाय फिर भी भय बना ही रहता है कि अब न कोई समास-रूपी सिंह झपट पड़े। ऐसे ग्रंथका शाब्दिक अनुवाद होना असंभव सा ही है। अब केवल भावानुवादकी ही शैली बच रहती है जिसके द्वारा हम अन्य भाषा-भाषियोंको कादम्बरीके आनन्दका उचित मात्रामें अनुभव करा सकते हैं। एक-एक भावका अनुवाद एक-एक वाक्यमें करके हम अपनी उद्देश्य-पूर्त्ति कर सकते हैं।

अरस्तूके कथनानुसार अनुवादका अनुवाद कभी न करना चाहिए क्योंकि अनुवाद करनेमें चाहे कितनी ही सावधानीसे काम क्यों न लिया जाय फिर भी लेखकके मूल भावोंकी यथातथ्य रक्षा प्रायः असंभव है। अनुवादसे

अनुवाद करनेमें हम मूल लेखकके भावोंसे बहुत दूर पड़ जा सकते हैं।

अनुवाद करनेमें कुछ भाषा-सम्बन्धी नियमोंका पालन करना अत्यावश्यक है जैसे मूल भाव जिस शैलीमें कहा गया हो उसका अनुवाद उसी शैलीमें किया जाय। यदि मूल लेखकने मधुर शब्दोंका प्रयोग किया हो तो अनुवाद भी मधुर शब्दोंमें ही होना चाहिए। यदि मूल लेखककी शैली संगीतात्मक रही है तो अनुवादकी शैली भी संगीतात्मक ही होनी चाहिए। इसके साथ ही व्यक्ति, धर्म, संप्रदाय और जाति-सम्बन्धी भावोंका यथार्थ अनुवाद होना चाहिए अर्थात् रैमसे नामधारी व्यक्तिके लिये अनुवादमें उसका नाम रामजी न कर देना चाहिए अथवा प्रोटेस्टैण्टके लिये 'आर्य-समाजी ईसाई' प्रयोग न करना चाहिए।

२१

पाठ्य-विषयोंका परस्पर सहयोग

स्कूलोंमें एक साधारण सा नियम है कि एक अध्यापक अपने पाठ्य-विषयोंके अतिरिक्त दूसरे पाठ्य-विषयोंके सम्बन्धमें न तो प्रायः जानता ही है और न जाननेकी चेष्टा ही करता है। अपना निर्दिष्ट विषय पढ़ा चुकनेके पश्चात् उसे सन्तोष हो जाता है। किन्तु भाषा-शास्त्री इस व्यवहारसे संतुष्ट नहीं हैं। वे कहते हैं कि एक कक्षाके विभिन्न पाठ्य-विषयोंमें अन्योन्याश्रय संबन्ध स्थापित होना चाहिए। भाषाके अध्यापकको यह देखना चाहिए कि वह भाषा पढ़ाते समय इतिहास तथा भूगोलको भी किस प्रकार और किस समय पढ़ा सकता है। भाषाके बिना तो कोई विषय पढ़ाया या पढ़ा ही नहीं जा सकता। अतः भाषाके अध्यापकको चौकन्ना होकर सब विषयोंके योग्य भाषा-संबंधी ज्ञानका विकाश करना चाहिए।

प्रायः प्राचीन संस्कृत भाषाके आचार्य इस सहयोग-सिद्धान्तको भली भाँति जानते थे। इसीलिये उन्होंने इतिहास तथा भूगोल जैसे वर्णनात्मक विषयोंसे लेकर गणित जैसे वैज्ञानिक विषयोंको भी साहित्यके साँचेमें ढाल दिया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि केवल संस्कृत साहित्यका पंडित शास्त्रों, वेदांगों तथा भारतीय वैज्ञानिक प्रयोगोंसे भली भाँति परिचित है। हिन्दी साहित्यके प्राचीन कवियोंने भी यह बात ध्यानमें रक्खी है। किन्तु इधर जो गद्यकी पुस्तकें निकल रही हैं उनमें इस प्रकारका ज्ञान रहता तो है पर हिन्दीका अध्यापक उन वैज्ञानिक प्रयोगोंकी व्याख्या करनेमें असमर्थ होता है और केवल शब्दोंका अर्थ बताकर चुप हो जाता है।

गद्यका ज्ञान मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे भी कभी पूरा नहीं प्राप्त हो सकता इसीलिये हमारे देशमें बहुत प्राचीन कालसे यह पद्धति सी चली आई है कि सभी विषयोंकी शिक्षा पद्यमें ही दी जाय। इस प्रणालीका सुपरिणाम यह हुआ कि क्लिष्टसे क्लिष्ट विषय पद्यके साँचेमें ढलकर विद्यार्थियोंकी जिह्वा पर नाचने लगे। गणित और आयुर्वेद जैसे विशुद्ध वैज्ञानिक विषयोंमें साहित्य और इतिहासका तथा शुद्ध साहित्यिक कृतियोंमें भूगोल जैसे विषयोंका समावेश होने लगा। इस प्रकार साहित्य और विज्ञानके पारस्परिक सहयोगसे एककी उपादेयता और दूसरेकी सुकरता बढ़ गई। प्रमाणके लिये लीलावती, वैद्यजीवन और रघुवंशको ले लीजिए।

लीलावती गणित ग्रन्थ है। उस पुस्तकमें गणित-विषयक

प्रश्न इतने सरस तथा मनोरंजक रूपसे विद्यार्थीके सामने रक्खे गए हैं कि उन्हें हल करनेके लिये विद्यार्थियोंका मन स्वयं मचल पड़ता है।

निम्नलिखित प्रश्नमें विद्यार्थी गणितके साथ इतिहास भी पढ़ता है जैसे—

पार्थः कर्णवधाय मार्गणगणं क्रुद्धो रणे संदधे।
तस्यार्द्धेन निवार्य्य तच्छरगणं मूलैश्चतुर्भिर्हयान्॥
शल्यं षड्भिरथेषुभिस्त्रिभिरपि च्छत्रं ध्वजं कार्मुकं।
चिच्छेदास्य शिरः शरेण कति ते यानर्जुनः सन्दधे॥

अर्जुनने क्रुद्ध होकर कर्णको मारनेके लिये जितने तीर चलाए उनमेंसे आधे तीरोंसे तो कर्णके तीर बचाए, शेषमेंके चार भागोंसे घोड़ोंको मारा, छः से शल्यको बेधा, तीनसे छत्र, ध्वज और धनुषको काटा और एक तीरसे उसका सिर काट लिया। बताइए अर्जुनने कितने तीर चलाए। [६ + ३ + १ = १०; १० × ४ = ४०; १० + ४० = ५०; (१० + ४० + ५० = १००)]

गणितका यह छोटा सा प्रश्न कर्ण अर्जुन और शल्यका परिचय देनेके साथ-साथ महाभारतका संक्षिप्त इतिवृत्त भी बतला देता है और युद्धके रथका भी परिचय देता है। उक्त प्रश्नके साथ अब अपने गणितके एक प्रश्नको भी मिलाइए—

अ, ब, स, ८ घंटे प्रति दिन काम करके ४८ फुट गहरा तालाब ३ दिनमें खोदते हैं। उनमेंसे प्रत्येकने कितने फुट खोदा।

वैद्यजीवन आयुर्वेदका ग्रन्थ है। इसके रचयिताका नाम लोलिम्बराज था। इन महापुरुषने अपने श्रीमुखसे स्वयं अपना परिचय देते हुए कहा है लोलिम्बराजः कविपातशाहः।

इन कविराजने वैद्यक-सम्बन्धी ऐसे रसीले नुस्खे लिखे हैं जिनमें वैद्यकके साथ-साथ अपूर्व साहित्यिक सम्मिश्रणसे अद्भुत रसायनका स्वाद मिलता है।

जीर्ण कफज्वरका एक नुस्खा देखिए—

> जीर्णज्वरं कफकृतं कणया समेत-
> श्छिन्नोद्भवोद्भवं कषायक एष हन्ति।
> रामो दशास्यमिव राम इव प्रलम्बं
> रामो यथा समर मूर्द्धनि कार्तवीर्य्यम् ॥

गिलोयके क्वाथ तथा पीपलके चूर्णका सेवन जीर्ण कफज्वरका नाश उसी प्रकार करता है जैसे रामने रावणका, बलरामने प्रलम्बका और परशुरामने कार्तवीर्य्यका नाश किया था। इस एक नुस्खेमें तीन अवतारोंका इतिहास भी निहित है।

आजकल दिल्ली, जयपुर या कराचीसे लन्दन तक हवाई जहाजसे यात्रा करनेवाले लोग मार्गमें आनेवाले शहरोंका प्रायः वर्णन किया करते हैं। परन्तु वे वर्णन इतने नीरस और निष्प्राण होते हैं कि पाठकोंको बिलकुल नहीं रुचते। परन्तु इसके सर्वथा विपरीत कविकुलगुरु कालिदासने अपनी कल्पनाके बल पर लंकासे अयोध्या तक भौगोलिक दृष्टिसे इतना सटीक और सजीव वर्णन किया है जो देखते ही बनता है। फिर भी जिस पुस्तकमें यह भौगोलिक वर्णन आया है वह भूगोलकी नहीं बल्कि साहित्यकी पुस्तक है, काव्य है। लंका विजय करके श्रीरामचन्द्रजी सीताजीके साथ पुष्पक विमान पर चढ़कर अयोध्या लौट रहे हैं। जान पड़ता है मानो वास्तवमें लंकासे अयोध्या तक सीधा वायु-

यान चला आ रहा है और विमानकी गतिके साथ वर्णनकी गति भी चलती है। श्रीरामजी मार्गमें आए हुए ऐतिहासिक स्थानोंका वर्णन देते हैं, समुद्र तथा नदियोंका परिचय देते हैं। साथ ही आकाशमें वायुयान द्वारा चलते हुए मेघ और विद्युत्‌का क्या अनुभव होता है वह भी कविकी दृष्टिसे छिपा नहीं है।

यह सब कहनेका तात्पर्य्य यही है कि प्राचीन भारतीय विद्वान् भी यह भली भाँति जानते थे कि विविध ज्ञान परस्पर अन्योन्याश्रित हैं और एक विषय पढ़ाते हुए दूसरे विषयका समावेश भी उसमें किया ही जाना चाहिए।

यह तो हुई ऐसी पुस्तकोंकी बात जिनमें साहित्य, विज्ञान, इतिहास, भूगोल आदिका एक साथ समावेश किया गया है। अब हमें यह विचार करना है कि भाषाका अध्यापक किस प्रकार अन्य विषयोंके अध्यापकों तथा विषयोंसे सहयोग प्राप्त कर सकता है।

१. भाषा तथा इतिहास—पाठ्य-पुस्तकमें आई हुई ऐतिहासिक घटनाओंका तथा महापुरुषोंके जीवन-चरितोंका विस्तृत ज्ञान इतिहासके अध्यापक द्वारा दिलाया जाय अथवा विद्यार्थियोंको ही इतिहासकी सरल तथा प्रामाणिक पुस्तकोंको पढ़नेके लिये कहा जाय। जब वे पढ़कर आवें तब उनसे कुछ ऐसे प्रश्न लिखवाने चाहिएँ जिनका इतिहास-संबन्धी तथ्य इतिहासका अध्यापक देख ले तथा भाषाकी जाँच भाषाका अध्यापक कर ले। इसी प्रकार इतिहासका अध्यापक जो इतिहास-संबन्धी लेख लिखनेको दे उसकी भाषाकी परीक्षा भाषाके अध्यापकसे करा ले।

२. भाषा तथा विज्ञान—वैज्ञानिक विषयोंमें भौतिक तथा रासायनिक विज्ञान, प्रकृति-विज्ञान, भूगोल, गणित आदि विषय पढ़ाए जाते हैं। भाषाकी पाठ्य-पुस्तकोंमें भी ऐसे विषयोंके पाठ रहते हैं। भाषाके अध्यापकका कर्त्तव्य है कि वह यदि उन विषयोंसे अनभिज्ञ हो तो उस विषयके अध्यापककी सहायता लेकर उनसे पहले उस विषयका प्रयोगात्मक तथा विस्तृत ज्ञान विद्यार्थियोंको करावे और भाषासंबन्धी ज्ञान स्वयं दे। साथ ही कवि-वर्णित प्रकृति-वर्णन तथा वैज्ञानिक द्वारा वर्णित प्रकृति-वर्णनका तारतम्य, उनके निरीक्षणका अन्तर, उनके प्रयोगोंके भेद आदिको समझा दे। उस विज्ञानका ज्ञान पूरा करनेके लिये उन्हें विभिन्न विज्ञानोंकी प्रयोगशालामें भेज देना चाहिए जिससे वे अर्जित ज्ञानकी यथार्थता जान सकें।

३. भाषा तथा कला—जो बात विज्ञानके संबन्धमें कही गई है वही कलाके लिये भी लागू है। हमारी पाठ्य-पुस्तकोंमें चित्रकला, संगीतकला, मूर्त्तिकला, कुश्ती, पटा आदि पर भी कभी-कभी पाठ होते हैं। जो उस कलाके शिक्षक हों उनसे उस विषयका प्रयोगात्मक अथवा व्यावहारिक ज्ञान करा देना चाहिए और उसके पश्चात् भाषा-संबन्धी कठिनाइयोंको स्वयं दूर कर देना चाहिए।

इस प्रकारके पारस्परिक सहयोगसे विद्यार्थियोंका ज्ञान परिपक्व होता है, अध्यापकोंका काम हलका हो जाता है और शिक्षा भी व्यवस्थित तथा संयत हो जाती है।

२२

पुस्तकालयकी व्यवस्था

पुस्तकालय मनुष्यके ज्ञान-भाण्डारको पुष्ट और समृद्ध करनेके सर्वोत्कृष्ट साधन हैं। वे हमारी मानसिक तृप्ति करनेके साथ हमारा बौद्धिक भोजन भी जुटाते हैं। पुस्तकालयोंका उपयोग सदासे बढ़ी-चढ़ी सभ्यताका परिचायक माना गया है।

पुस्तक एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा हम घर बैठे ही सारे संसारकी सैर कर लेते हैं, सारे संसारके दर्शन, विज्ञान और साहित्यसे परिचित होते हैं, नई और पुरानी विभिन्न जातियोंकी विचार-धारामें डुबकियाँ लगाकर अनमोल मोती बटोरते हैं, हजारों वर्ष पहलेके महापुरुषोंकी भावनाओंका स्पष्ट परिचय प्राप्त करते हैं और इस प्रकार अपने जीवनको सरल और सुसंस्कृत बनाते हुए मस्तिष्कको पुष्ट, मनको प्रसन्न और बुद्धिको विकसित करते हैं।

यदि अध्यापकोंको हम स्कूलका मस्तिष्क मानें तो पुस्तकालयको स्कूलकी आत्मा माननी पड़ेगी, क्योंकि अध्यापकोंकी कार्य-कुशलता बहुत कुछ पुस्तकालयकी उपयोगिता पर ही निर्भर है। जो वास्तविक अध्यापक होते हैं वे सदा पुस्तकालयोंका उपयोग करते हुए अपने ज्ञान-क्षितिजको उदार करते रहते हैं, जिससे उनके विद्यार्थी भी केवल पाठ्य पुस्तकके कूप-मंडूक न रहकर मुक्त आकाशमें विचरण करनेवाले पक्षीके समान विस्तृत वसुधाकी थोड़ी बहुत जानकारी रखनेवाले हो जाते हैं।

जिस प्रकार स्कूलकी आत्मा पुस्तकालय है उसी प्रकार पुस्तकालयका प्राण पुस्तकोंका समुचित चुनाव है। पुस्तकालयमें संसारका कूड़ा-कचरा बटोर कर रख देनेसे कोई लाभ नहीं होता। ऐसे पुस्तकालयोंसे लाभके स्थान पर हानि होनेकी ही अधिक सम्भावना रहती है। शिक्षण-संस्थाओंके पुस्तकालयोंमें जो पुस्तकें रक्खी जायँ उनमे तीन बातों पर ध्यान रखना बहुत आवश्यक है।

(१) स्कूलीय पुस्तकालयमें संगृहीत पुस्तकें रुचिकर तो हों पर कुरुचिपूर्ण नहीं। उन पुस्तकोंके पठन-पाठनमें मन तो रमे पर कोई चरित्र-सम्बन्धी अवांछनीय प्रभाव न पड़ने पावे।

(२) स्कूलोंमें जो पुस्तकें रक्खी जायँ वे विचारशीलताको प्रोत्साहन देनेवाली अवश्य हों पर सर्वथा दार्शनिक न हों। उन पुस्तकोंके पठन-पाठनसे विद्यार्थीमें स्वयं सोचनेकी शक्ति तो बढ़े पर ऐसा न हो कि पुस्तक समझनेमें ही उसकी सारी शक्ति शिथिल हो जाय।

(३) वे ज्ञान बढ़ानेवाली होनेके साथ-साथ सरल भी हों। उनमें ज्ञानभाण्डार बढ़ानेवाले विषयोंका वर्णन सर्वग्राही तथा लोकबोधक होना चाहिए जिनसे केवल अध्यापक ही नहीं वरन् छात्र भी उचित लाभ उठा सकें।

पुस्तकोंकी प्रकृतिके अनुसार स्कूलके पुस्तकालयके पाँच विभाग हो सकते हैं। पहलेमें उपदेशात्मक पुस्तकें हों जैसे नीतिके संग्रह, हितोपदेश, भगवद्गीता आदि। दूसरे विभागमें वे पुस्तकें हों जिनका उपयोग किसी विषयकी जानकारीके लिये ही किया जाता है और जिन्हें सहायक ग्रन्थ (रेफ़रेन्स बुक्स) कहते हैं। चित्र-संग्रह और एटलस जैसी पुस्तकोंकी गणना इसी विभागमें की जा सकती है। तीसरा विभाग पाठ्यग्रन्थोंका हो। इनमें वे पुस्तकें रक्खी जायँ जो कक्षा-विशेषके लिये निर्दिष्ट हो चुकी हैं। इन पुस्तकोंका उपयोग तभी तक रहता है जब तक उनका नाम पाठ्य पुस्तकोंकी सूचीमें चढ़ा रहता है। चौथा विभाग विशेष विज्ञान-सम्बन्धी पुस्तकोंका हो। इस विभागमें नवीन वैज्ञानिक विषयों पर खोजके साथ लिखी हुई पुस्तकें रक्खी जायँ। बिजली, बेतार आदि विषयों पर लिखी हुई सभी पुस्तकें इस विभागमें रक्खी जा सकती हैं। पाँचवें विभागमें मनोरंजक पोथियाँ हों। काव्य, नाटक, कहानी, यात्रा-वृत्तान्त और उपन्यास सभीकी खपत इस विभागमें हो सकती है। पुस्तकोंका संग्रह करते समय सदा स्मरण रखना चाहिए कि ऐसी कोई पुस्तक न छूट जाय जिसके न होनेसे स्कूलीय पाठ्य विषयोंके किसी अंशके पढ़ने-पढ़ानेमें बाधा पड़े।

पुस्तकोंका संग्रह

इन सब पुस्तकोंकी प्राप्तिके दो ही मार्ग हैं। पहला मार्ग तो यह है कि पुस्तकें मोल ली जायँ और दूसरा यह कि वे उपहारमें मिलें। पुस्तकें चाहे इन दोनोंमेंसे किसी ढंगसे मिलें परन्तु उन्हें पूर्वोक्त कसौटी पर कसनेके बाद ही पुस्तकालयमें स्थान देना चाहिए। मोल ली हुई पुस्तकोंके सम्बन्धमें तो कसौटीका प्रयोग होना स्वाभाविक है परन्तु उपहारमें मिली हुई पुस्तकोंको परखनेका प्रयत्न प्रायः लोग नहीं करते। दानकी बछियाके दाँत कौन गिनता है। पर ऐसा होना ठीक नहीं। विद्यार्थियोंके लिये जो हानिकारक सिद्ध होती हों ऐसी पुस्तकोंका बहिष्कार करना ही श्रेयस्कर है भले ही वे बहुमूल्य हों और बिना मूल्य ही मिली हों। स्कूलोंमें पुस्तकालयके दो विभाग करने चाहिएँ। पहला विभाग सर्वसाधारण के लिये हो अर्थात् स्कूलभरके लिये एक बड़ा पुस्तकालय हो जिसका उपयोग अध्यापक तथा छात्र समान रूपसे करें। दूसरा छोटा पुस्तकालय प्रत्येक कक्षामें हो जिसका उपयोग केवल उसी कक्षाके विद्यार्थी करें।

कक्षाओंसे सम्बद्ध पुस्तकालयोंमें जो पुस्तकें रक्खी जायँ वे कक्षाके विद्यार्थियोंके अवस्थानुरूप हों। अध्यापकका यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह विद्यार्थियोंकी मानसिक अवस्थाके अनुसार पढ़नेके लिये पुस्तकें चुननेमें सहायता दे। वह इस बातका प्रयत्न करे कि विद्यार्थियोंमें अनिवार्यतः पुस्तक पढ़नेकी रुचि उत्पन्न हो पर इसके लिये किसी प्रकारकी कड़ाई कदापि न की जाय। अध्यापकको

चाहिए कि वह मनोवैज्ञानिक प्रेरणा द्वारा विद्यार्थियोंमें पुस्तक पढ़नेकी रुचि पैदा करे। उदाहरणार्थ पढ़ाते-पढ़ाते अध्यापक कह बैठे कि अमुक विषय पर अमुक पुस्तकमें बड़ी अच्छी-अच्छी बातें लिखी हैं। अमुक पुस्तक बड़ी सुन्दर और मनोरंजक है। इसीके साथ साथ विद्यार्थियोंसे उस पुस्तककी संक्षिप्त चर्चा भी कर दें। ऐसा होनेसे विद्यार्थी स्वभावतया उक्त पुस्तक पढ़नेके लिए आकृष्ट होगें। परन्तु अध्यापकका कार्य इतनेसे ही समाप्त नहीं होता। उसे बीचमें इसकी परीक्षा भी लेनी चाहिए कि विद्यार्थियोंने उसकी बताई पोथियाँ पढ़ी हैं या नहीं। इस परीक्षामें अध्यापकको यह सावधानी रखनी चाहिए कि विद्यार्थी यह कभी न भाँपने पावें कि हमारी परीक्षा हो रही है। यह परीक्षा इस प्रकार ली जा सकती है कि पढ़ाते समय अध्यापक एकाएक कह बैठे कि अमुक बात अमुक पुस्तकमें लिखी हुई है, तुमने तो उसे पढ़ा है, कहो तो क्या है। इस प्रकार बीच-बीचमें पूछते रहनेसे अध्यापकद्वारा निर्दिष्ट पुस्तक विद्यार्थी अवश्य पढ़ेगा क्योंकि उसके मनमें यह बात तो बैठ ही जायगी कि न जाने कब अध्यापक महाशय अपनी बतलाई हुई पुस्तकके बारेमें कुछ पूछ बैठें और हम समुचित उत्तर न देनेके कारण कक्षामें लज्जित हों।

द्रुतपठनकी शिक्षण-व्यवस्था

इसी प्रसंगमें हमें द्रुतपठनकी शिक्षण-व्यवस्थापर भी विचारकर लेना उचित होगा। हमारे पाठ्यक्रममें पाठ्य-ग्रन्थोंके साथ-साथ कुछ ऐसी पुस्तकोंका विधान किया

जाता है जिन्हें सहायक पुस्तकें (रैपिड रीडर्स) कहते हैं। ऐसी पुस्तकोंमें प्रायः कथा-कहानियाँ तथा महापुरुषोंके जीवन-चरित आदि होते हैं। इन्हें पाठ्य-क्रममें रखनेका उद्देश्य यह होता है कि विद्यार्थी किसी भी पुस्तकको अपने आप शीघ्र पढ़कर उसका भाव समझ सके। प्रायः ऐसी पुस्तकें भी उसी प्रकारसे पढ़ाई जाती हैं जैसे पाठ्य पुस्तकें। उनके पढ़ानेके समय भी प्रत्येक कठिन शब्दका अर्थ बताया जाता है और एक-एक वाक्यका भावार्थ बतलाया जाता है। यह क्रम नितान्त भ्रमपूर्ण है तथा द्रुतपाठनके उद्देश्यसे भी दूर है। पाठ्यक्रममें द्रुतपठनकी व्यवस्था करनेका उद्देश्य यह है कि विद्यार्थी किसी भी लिखित या मुद्रित सामग्रीको शीघ्रतासे पढ़कर उसका अर्थ या भाव समझ सकें। ऐसी पुस्तकोंको कक्षामें पढ़ानेका एक विधान यह है कि एक-एक अनुच्छेद एक-एक विद्यार्थीसे स्वरसे पढ़वाया जाय और एक-एक अनुच्छेदका भावार्थ प्रश्नोंद्वारा कहला लिया जाय। आठवें प्रकरणमें हम स्वरसे पढ़ाने सिखानेकी विस्तृत व्याख्या कर चुके हैं। दूसरा विधान यह है कि कक्षामें एक पूरा पाठ मौन पढ़नेके लिये दे दिया जाय। अध्यापक यह देखता रहे कि सब विद्यार्थी पढ़ रहे हैं या नहीं। जब वे पढ़ चुकें तो उनसे पाठका भाव प्रश्नोंद्वारा कहला लिया जाय।

मौन-पठनका वास्तविक उपयोग ऐसी पुस्तकोंके पढ़नेमें ही कराया जा सकता है क्योंकि कथा-कहानी अथवा जीवन-चरित स्वभावतः रुचिकर होते हैं। विद्यार्थी यह चाहता है कि वह शीघ्र घटनाओंके चढ़ाव-उतरावको पार कर ले।

एक-आध कठिन शब्द या वाक्य उसके अर्थबोधके मार्गमें बाधा नहीं उत्पन्न करते। उनमेंसे कुछ तो प्रसंगवश स्पष्ट हो जाते हैं और जो बच भी रहते हैं वे कथा-बोधमें रुकावट नहीं डाल सकते। यहाँ शब्द-भांडार बढ़ाना नहीं वरन् अर्थ ग्रहण करना ही उद्देश्य होता है। यहाँ इस प्रकारकी पुस्तकें या पाठ पढ़ाते समय मौन-पठनका विधान उचित, सङ्गत तथा लाभकर हो सकता है क्योंकि इससे धीमी चालवालोंको सहारा मिल जाता है और तीव्र गतिसे पढ़नेवालोंको सुन्दर सुयोग। फिर नागरी भाषा तो मातृभाषा है और इतनी शुद्ध तथा सरल है कि इसमें उच्चारण-संबंधी भूलें अधिक नहीं हो सकतीं। द्रुतपठनके विषयमें इतना ही कहकर बस करते हैं कि हरबार्टीय प्रणालीसे व्याख्या करके द्रुतपाठ्य-पुस्तकें नहीं पढ़ानी चाहिएँ। उनके लिये उपर्युक्त विधान ही उपादेय है।

पुस्तकालयका प्रबन्ध

मुख्य पुस्तकालयके प्रबन्धका भार किसी ऐसे अध्यापकको सौंपना चाहिए जिसे पुस्तकोंसे स्वाभाविक प्रेम हो, जिसका ज्ञान चतुर्मुख हो, जो थोड़ी-बहुत सभी विषयोंकी जानकारी रखता हो, जिसके पास किसी विशेष विषयके अध्ययनकी इच्छा लेकर यदि कोई आवे तो वह तुरत उसके काममें आनेवाली दो चार छः पुस्तकोंके नाम बतला सके तथा उचित परामर्श दे सके।

कक्षासे सम्बन्ध रखनेवाले पुस्तकालयकी देखरेख उस कक्षाके अध्यापकके हाथमें रहनी चाहिए पर पुस्तकके लेन-

देनका सारा काम विद्यार्थियोंके द्वारा ही होना उचित है। ऐसा होनेसे विद्यार्थियोंमें स्वावलम्बनकी भावना जड़ पकड़ेगी। पुस्तकके लेन-देनका सारा प्रबन्ध विद्यार्थियोंके हाथोंमें रहनेसे उनकी रुचि भी धीरे-धीरे पुस्तकोंके पठन-पाठनकी ओर बढ़ेगी।

पत्र-पत्रिकाएँ

स्कूलीय पुस्तकालयकी व्यवस्थामें हस्तलिखित पत्रिकाओं तथा शिक्षा-संबंधी पत्र-पत्रिकाओंका भी स्पष्ट निर्देश हो जाना उचित है। हस्तलिखित पत्रिकाओंके स्थानीय संपादकोंकी यह प्रवृत्ति होती है कि उन्हें जो कुछ भी जिस किसीसे भी लिखा हुआ मिल जाता है उसे वे उस पत्रिकामें दे डालते हैं। स्कूलकी हस्तलिखित पत्रिकाके संपादकको दूसरे संपादकोंकी अपेक्षा अधिक सावधान रहना चाहिए। विषयोंका चुनाव इस प्रकारसे करना चाहिए कि उनमें अनावश्यक, अनर्गल तथा कुरुचिपूर्ण सामग्री किसी प्रकार भी प्रविष्ट न हो। लेख छोटे और मनोरञ्जक हो। उनमें जो ज्ञान देनेका प्रयास किया गया हो वह गुरु और उपदेष्टाके रूपसे न हो वरन् कथा-कहनेवालोंके ढंगसे हो। प्रायः इन पत्रिकाओंमें प्रत्येक लेख अपनी-अपनी अलग भाषा और शैलीका द्योतक होता है। शैली भले ही अलग-अलग हो किन्तु भाषाका एक रूप अवश्य होना चाहिए। यह संपादकका काम है कि वह आए हुए सब लेखोंकी भाषाको एकरूप कर दे और जहाँ शैलीमें दोष आ गया हो उसे भी सुधार दे। सब लेख सुन्दर लिपिमें लिखे जाने चाहिएँ और इन

पत्रिकाओंमें यथासंभव सब लेख विद्यार्थियोंके ही हों।

भाषाके अध्यापकको यह न समझ लेना चाहिए कि वही पत्रिकाका एक मात्र अधिपति है और केवल वही पत्रिकाके स्वरूपका विधाता है। उसे चित्रकला-शिक्षकका भी सहयोग प्राप्त करना चाहिए। उनसे पत्रिकाका सौन्दर्य्य बढ़ानेमें सहायता मिल सकती है। इन पत्रिकाओंमें लेखोंके बीचमें विषयसे सम्बन्ध रखनेवाले चित्र बनवाए जा सकते हैं जिससे कि पाठ्यविषय आकर्षक तथा रुचिकर बन जायँ। फूल-पत्तियों तथा बेल-बूटोंसे प्रत्येक लेखका शीर्षक मनोहर बनाया जा सकता है। इन पत्रिकाओंमें छोटी-छोटी कविताएँ कहानियाँ,संवाद, व्यंग्य चित्र आदि सब सामग्री रह सकती हैं। प्रत्येक मासकी पत्रिका जिल्द बँधवाकर संग्रह कर लेनी चाहिए।

इन पत्रिकाओंसे सबसे बड़ा लाभ यह है कि विद्यार्थियोंकी लिखनेमें रुचि बढ़ती है और उनकी भाषा तथा शैलीका परिमार्जन हो जाता है। अपने साथीकी किसी कृतिको देखकर अनायास ही उनकी स्पर्द्धाकी भावना जग उठती है और रचनात्मिका वृत्ति सक्रिय हो जाती है।

हस्तलिखित पत्रिकाके अतिरिक्त जो बाहरसे छपी हुई पत्र-पत्रिकाएँ स्कूलमें मँगाई जायँ उनमें भी इस बातका ध्यान रक्खा जाय कि उनके विषय सुरुचिपूर्ण, चरित्र-निर्मायक उदात्त-वृत्तिको उकसानेवाले तथा रुचिकर हों और उनकी भाषा विद्यार्थियोंकी मानसिक अवस्थाके अनुकूल हो। उनमें गन्दे तथा झूठे विज्ञापन न हों। यदि हों तो वे फाड़कर अलग कर दिए जायँ।

संग्रहालय

प्रायः स्कूलोंमें छोटे-मोटे संग्रहालय तो होते ही हैं किन्तु उनमें अधिक सामग्री व्यर्थ सी होती है। भाषाके अध्यापक तथा विद्यार्थियोंके लिये संग्रहालयमें कुछ विशेष वस्तुएँ अथवा उनके चित्र होने चाहिएँ। हम लोग चातक, कोकिल सारिका तथा हंस आदि पक्षियोंका वर्णन अपनी पुस्तकोंमें पाते हैं और पढ़ाते समय 'एक प्रकारका पक्षी' कहकर काम चला लेते हैं। यहाँ तक कि अध्यापक भी इन पक्षियोंके रूप-रंगसे परिचित नहीं होते। इसी प्रकार वीणा, मृदग, भेरी, अस्त्र-शस्त्र, फूल-पत्तियाँ, लता-वृक्ष, फल-फली आदि से भी वे अपरिचित होते हैं। यदि ये वस्तुएँ, इनके चित्र अथवा इनकी प्रतिमूर्त्तियाँ संग्रहालयमें हों तो पढ़ानेमें सुविधा हो और इन पदार्थोंका उचित ज्ञान हो।

हमने पुस्तकालयकी व्यवस्थाको केवल हिन्दीकी दृष्टिसे नहीं वरन् सब विषयोंकी दृष्टिसे लिखा है। हिन्दीके अध्यापक इसमें बताए हुए नियमों तथा सिद्धान्तोंके अनुसार हिन्दीकी पुस्तकोंका संग्रह तथा प्रयोग कर सकते हैं।
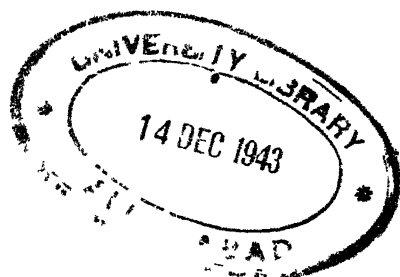
२३

कुछ नवीन शिक्षा-प्रणालियाँ

हम पीछे चौदहवें प्रकरणमें शिक्षाशास्त्रकी नई गति-विधियोंका संकेत दे चुके हैं। यहाँ हम मनोवैज्ञानिक अध्ययनके आधारपर आविष्कृत नई शिक्षा-प्रणालियोंका परिचय देंगे और यह भी विचार करेंगे कि उनमें भाषाशिक्षाकी व्यवस्था किस प्रकार की गई है और वह कहाँ तक उपयोगी तथा सार्थक है।

बालोद्यान (किण्डरगार्टेन्)

फ़्रीड्रिख़ फ़्रोबेल्‌ने सन् १८४० ई० में जर्मनीमें अपनी बालपाठशालाका नाम बालोद्यान या किण्डरगार्टेन् रक्खा था। खेल, स्वाभाविक चहलपहल तथा स्वेच्छापूर्वक स्वशिक्षण द्वारा मनुष्योंको स्वयंशिक्षित तथा स्वयंसंस्कृत बनानेके लिये वह पाठशाला खोली गई थी। फ़्रोबेल् महोदयका उद्देश्य यह था कि शारीरिक तथा मानसिक शक्तियोंको इस प्रकार जगाया जाय कि 'बालक यहाँपर

अपनी वास्तविक प्रकृति, चरित्र तथा अपनी जीविका-वृत्तिको सचाईके साथ प्रकट कर सके, उन्नत कर सके और सीखते हुए अपनेको शिक्षित बनाता चले।' इस उद्देश्यकी पूर्त्तिके लिये उन्होंने निम्नलिखित साधन प्रस्तुत किए—

१. गीत, खेल और सीधा-सादा शारीरिक व्यायाम—गीतोंमें वे लोरियाँ थीं जो प्रायः माताएँ गाया करती थीं और खेल तथा व्यायाम वे ही थे जो बहुधा बालक खेला करते थे या माताएँ बच्चोंके साथ खेलती थीं।

२. सिखाऊ खिलौने—इन्हें 'फ़्रोबेल्‌का उपहार' भी कहते हैं। ये खिलौने बच्चोंके स्वतन्त्र खेलनेके लिये बनाए गए थे जिनको वे 'अपने आप बना-बिगाड़कर' अपना विकास करें तथा गणित-संबन्धी अनेक रूपोंसे परिचित हों।

३, सिखाऊ हस्तकौशलकी सामग्री—इनमें बालू, चिकनी मट्टी, कागज, पेंसिल इत्यादि हैं जिनसे बालक इन सामग्रियोंके प्रयोगसे कुछ वस्तुएँ बना सके।

४. प्रकृति-निरीक्षण—पेड़-पत्ते तथा चिड़ियों-चौपायोंसे परिचय प्राप्त करना, जिससे बालक दूसरे जीवोंको तथा ईश्वरको समझें और उनका आदर करें।

५—कथा-कहानी सुनाना।

उपर्युक्त साधनोंमें गीत तथा कहानियाँ ऐसे साधन हैं जिनसे भाषा-शिक्षणमें सहायता मिल सकती है। कुछ खिलौने भी इस प्रकारके हैं कि उनके मेलसे अक्षर बनाए जा सकते हैं किन्तु वास्तवमें इस स्वतंत्रताके क्षेत्रमें भाषा-

शिक्षणका कोई भिन्न अस्तित्त्व तथा महत्त्व नहीं है। इसीके आधारपर भुवालीके श्री देवीदत्तने एक किंडरगार्टन बक्स बनाया है जिसमें चौबीस लकड़ीके टुकड़े रहते हैं जिनसे कई भाषाओंके अक्षरों तथा बहुतसे जीवों और पदार्थोंकी आकृतियाँ बन जाती हैं। इन टुकड़ोंसे बच्चोंको आनन्द तो आता है किन्तु अक्षर सीखनेके बदले वे साँप और चिड़िया अधिक बनाते हैं क ख ग घ कम। इस प्रणालीसे शिक्षा देनेमें बहुत समय नष्ट होता है किन्तु आरंभमें तीन वर्षके बालकको दो-तीन महीने इनसे खिलाया जा सकता है।

मौन्तेसोरी प्रणाली

इटली-निवासी श्रीमती मेरिया मौन्तेसोरीने बालकोंके स्वतन्त्र तथा स्वाभाविक विकासको अबाध बनानेके लिये एक शिक्षा-प्रणाली निकाली है जो उन्हींके नामसे प्रचलित है। उनके सिद्धान्त ये हैं—(१) बादमें दी जानेवाली शिक्षाके लिये पहलेसे पुट्ठों तथा अंगोंको ठीक प्रकारसे सधा देना चाहिए। (२) इसकी सबसे अच्छी विधि यह है कि विशेष रूपसे निर्मित, नियमित सामग्री पर क्रमिक अभ्यास कराए जायँ। (३) ये अभ्यास बालक अपनी गतिसे करें। (४) जिनमें कई प्रकारके कार्य एक साथ होते हैं उन कार्योंके लिये पहलेसे हाथ, आँख आदि सधा दिए जायँ जैसे सलाईसे बुननेमें। श्रीमती मौन्तेसोरीजीका दावा है कि उन्होंने बालकोंकी गतिविधिको भली प्रकार समझ लिया है और जो सामग्री बनाई है वह अत्यन्त कठोर वैज्ञानिक कसौटी पर कसी जा चुकी है। पर अभीतक उन्होंने उस वैज्ञानिक

कसौटीका लेखा नहीं दिया है जिससे और लोग भी उसकी परीक्षा कर सकते। भाषा सिखानेकी विधि इनकी विचित्र है। बलुए कागजके अक्षर काटकर अलग चिपकाए जाते हैं। उनपर बालक आँखमें पट्टी बाँधकर या देखकर हाथ फेरता है और उसकी पहचान करता है। अन्धोंके स्कूलके लिये तो यह प्रणाली ठीक है पर साधारण स्कूलोंमें इस प्रकार पढ़ाना समय और द्रव्यका अपव्यय है। इसी प्रकार इन्होंने व्याकरण, पोथी पढ़ना, गणित, संगीत तथा चित्रकला इत्यादिके लिये भी बड़े ठाठ-बाटके खर्चीले उपाय निकाल डाले हैं जिनके लिये न तो भारतके पास पैसा है न समय। इसे तो राजाओंकी हवेली समझनी चाहिए—
'दिलके बहलानेको ग़ालिब ये ख़याल अच्छा है।'

डाल्टन प्रयोगशाला-योजना

कुमारी हेलन पार्खर्स्ट इस योजनाकी प्रवर्त्तिका हैं। आपका भी उद्देश्य यही है कि बालकोंको ज्ञान तो दिया जाय अवश्य पर वे उसे बोझ न समझें और मशीनकी तरह अरुचिकर तथा एकरस न मानें। इसीलिये उन्होंने नित्यका कार्य्यक्रम (टाइम टेबिल) फाड़ फेंकने और सीधा एक महीने भरका काम देनेकी सलाह दी है। विद्यार्थीको यह स्वतन्त्रता दे दी कि वह इस कामको महीने भरमें जिस समय चाहे पूरा करे। स्कूलकी प्रत्येक कक्षा भूगोल, भाषा, इतिहास तथा विज्ञानकी प्रयोगशाला बन गई। वहाँ उस विषयकी सब सामग्री और उस विषयका अध्यापक बैठा रहता है कि विद्यार्थीको समय पर परामर्श दे। सब काम विद्यार्थी

स्वयं करता है। जैसे ही वह एक निर्दिष्ट कार्य समाप्त करता है त्यों ही उसे दूसरा मिल जाता है। तेज बालक जल्दी समाप्त करके आगे बढ़ सकता है, मन्द बालक अपनी मन्दी चालसे काम करता रहता है। दोनोंको लाभ है। इसके द्वारा अध्यापक अधिक बोलनेसे बच जाता है। एक महीनेके लिये चार सप्ताहोंमें बाँटकर पढ़नेके पाठ तथा लिखनेके लिये अभ्यास देकर वह केवल सहायता देता रहता है। विद्यार्थी भी स्वतन्त्र, अध्यापक भी स्वतन्त्र। कुमारी पार्खर्स्टने उदारतापूर्वक यह स्वतन्त्रता भी दे दी है कि इस प्रणालीमें आवश्यकताके अनुसार परिवर्त्तन भी किए जा सकते हैं। यह प्रणाली तभी प्रारम्भ की जा सकती है जब बालक अपने पैर पर खड़ा होनेके योग्य हो जाय अर्थात् वर्त्तमान पाँचवीं कक्षासे ऊपर इसका ठीक उपयोग हो सकता है।

इस प्रणालीमें जो कार्य्य दिया जाता है उसे ठेकेका कार्य्य (कौन्ट्रैक्ट एसाइनमेण्ट) कहते हैं। यह कार्य्य देते हुए निम्नलिखित बातोंका ध्यान रक्खा जाता है।

(१) प्रस्तावना—थोड़ेसे शब्दोंमें एक महीनेके कार्य्यका कुछ थोड़ा सा परिचय दे देते हैं।

(२) विषयांग— भाषाके किस अंग (रचना,व्याकरण, कविता आदि) के लिये कार्य्य दिया जाता है। इसका उल्लेख होता है।

(३) समस्याएँ—इस शब्दके अंतर्गत बहुत सी बातें हैं जैसे—शब्द-तालिका बनाना, मानचित्र बनाना आदि।

अधिकतर भाषाके पाठमें समस्याएँ कम होती हैं।

(४) लिखित कार्य्य—जो कुछ लिखवाना होता है उसकी पूरी सूची होती है और जिस तिथिको लेख लेना होता है उस तिथिका स्पष्ट उल्लेख होता है।

(५) कण्ठस्थ करनेके योग्य कार्य—उन कविताओं अथवा अनुच्छेदोंका उल्लेख होता है जो कण्ठस्थ कराने होते हैं।

(६) बैठक—उन तिथियोंका उल्लेख होता है जब पूरी कक्षाको एक साथ बैठा कर प्रत्येक विषय पर बातचीत की जाती है।

(७) सहायक पुस्तकें—उन पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओंके नाम दिए जाते हैं जिनकी सहायता लेनेका आदेश दिया जाता है। साथ ही अध्यायों तथा पृष्ठोंका भी उल्लेख कर दिया जाता है जिसमें बालकको अधिक समय नष्ट न करना पड़े।

(८) गति-प्रदर्शक—बालकको यह बतलाया जाता है कि वह अपनी उन्नतिका लेखा किस प्रकार बनावे।

(९) सूचना-पट्टका अध्ययन—जब कभी प्रयोगशालाके सूचना-पट्ट पर कोई चित्र, मानचित्र अथवा लेख आदि पढ़नेके लिये टाँग दिए गए हों तो उसका भी उल्लेख कर दिया जाता है।

(१०) विभागीय छूट—कक्षाके विभिन्न 'पाठ्य विषयोंमें परस्पर सहयोग होता है। यदि किसी विद्यार्थीको इतिहासके अध्यापकने शिवाजी पर एक लेख लिखनेको दिया और

वह लेख भाषाकी दृष्टिसे बहुत अच्छा लिखा गया तो भाषाका अध्यापक अपने दिए हुए लेखन-कार्य्यमेंसे उतनी कमी कर देता है और उसका उल्लेख कर देता है। इस प्रकार एक-एक सप्ताहका कार्य्य अलग-अलग बनाकर दे दिया जाता है।

उपर्युक्त सिद्धान्तोंको दृष्टिमें रखकर ऐसी पुस्तकोंका भी निर्माण और प्रचार करना चाहिए जिसमें भली प्रकार बाँटकर काम देनेका सुयोग हो। यह प्रणाली दोष-रहित, मनोविज्ञान-सिद्ध, शिक्षा-शास्त्र-विहित, रुचिकर तथा सर्वत्र प्रयोज्य है अतः सर्वश्रेष्ठ है।

प्रयोग प्रणाली (प्रोजैक्ट मेथड)

यह प्रणाली सर्वप्रथम संयुक्तराज्य अमेरिकामें कृषिके लिये काममें लाई गई थी। उसके बाद अन्य पाठ्य विषयोंमें भी इसका प्रयोग किया गया। इसके प्रवर्त्तकोंने प्रयोगकी यह परिभाषा दी है—'प्रयोग वह समस्यात्मक कार्य्य है जो वास्तविक परिस्थितिमें पूरा किया जाय।' कहनेका तात्पर्य यह है कि जो विषय पढ़ाए जायँ वे स्कूलके पाठ्य-विषय कहकर नहीं बल्कि वास्तविक कार्य्यके रूपमें सिखलाए जायँ। इस प्रणालीद्वारा भाषा-शिक्षणका उदाहरण देनेसे इसका स्वरूप स्पष्ट हो जायगा। मान लीजिए विद्यार्थियोंको निमन्त्रण-पत्र लिखना सिखाना है। जिस दिन स्कूलमें कोई उत्सव हो उस दिन कक्षाके विद्यार्थियोंसे कहा जाय कि नगरके प्रतिष्ठित लोगोंके लिये निमन्त्रण-

पत्र लिखो और भेजो । यह प्रयोग दे दिया गया। अब वे नगरके प्रतिष्ठित लोगोंकी नामावली बनावेंगे, पुराने निमन्त्रण-पत्र एकत्र करके उनमेंसे अपनी अपनी रुचिके अनुसार सुन्दर निमन्त्रण-पत्र छाँटेंगे, तदनुसार अपने आप लिखेंगे, लिफाफे तैयार करेंगे, पते लिखेंगे और फिर उन्हें भेज देंगे। इस प्रकार एक-एक विद्यार्थी दस-दस बीस-बीस पत्र लिखेगा तो उसको कमसे कम निमन्त्रण-पत्रका वह रूप तो सिद्ध हो जायगा। अब आपने देखा कि यह समस्यात्मक कार्य्य वास्तविक परिस्थितिमें पूरा किया गया। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि सब विषय तथा किसी विषयके सब अंग इस प्रणालीके द्वारा नहीं सिखाए जा सकते। इसका प्रयोग स्कूलोंमें विशेष अवसरों पर किया जा सकता है।

वर्धा-शिक्षा-योजना

आजकल वर्धा-शिक्षा-योजनाकी धूम है। युक्तप्रान्तमें मूलशिक्षा (बेसिक) के नामसे तथा मध्यप्रान्तमें विद्या-मन्दिर योजनाके नामसे इसीका प्रयोग हो रहा है।

यह योजना सर्वप्रथम महात्मा गाँधीने अपने 'हरिजन'के सन् १९३७ के एक अंकमें प्रकाशित की थी। उनके अनुसार यह योजना (१) मुख्यतः गावोंके लिये है जहाँ नगरोंकी अपेक्षा अधिक शिक्षाका अभाव है। (२) इसका उद्देश्य यह है कि काम चलाऊ शिक्षा, अक्षर-ज्ञान तथा किसी उपयोगी कौशलका ज्ञान कराया जाय। (३) यह शिक्षा कर-दाताओंपर भार न होकर स्वावलम्बी हो।

(४) इसके द्वारा गावोंको छोड़कर नगरोंमें जाकर बसने की प्रवृत्ति रोकी जाय।

इस योजनाकी विशेषता यह है इसमें सब ज्ञातव्य विषयोंकी शिक्षा एक मूल हस्तकौशलपर अवलम्बित तथा उससे सम्बद्ध होती है अर्थात्, भाषा, इतिहास, भूगोल, संगीत सबका सम्बन्ध उस मूल हस्तकौशलसे होता है जो बालकने स्वीकार किया हो। इन मूल हस्तकौशलोंमें कताई-बुनाई, खेती-बारी, बढ़ईगिरी इत्यादि अनेक हस्त-कौशल आ सकते हैं। अभी इसपर प्रयोग हो रहे हैं अतः भली प्रकार प्रयोग होनेसे पूर्व कुछ भी कहना ठीक न होगा। हाँ यह बात तो बहुत लोगोंने मान ली है कि यह शिक्षा-प्रणाली स्वावलम्बी नहीं हो सकती। वास्तवमें यह योजना पेस्तालोजी महोदयके शिक्षण-सिद्धान्तोंका तथा उपर्युक्त प्रयोग-प्रणालीका भारतीय रूपान्तर मात्र है।

२४

नागरीमें मुद्रण, टंकलेखन तथा अनुद्रुत लिपि

छठे प्रकरणमें हम नागरी-लिपिकी सर्वाङ्गपूर्णता पर विचार कर चुके हैं। इस प्रकरणमें हम मुद्रण-संबंधी समस्याओं पर विचार करेंगे।

नागरी-सुधारकोंकी यह शिकायत है कि मुद्रण-यंत्रालयोंको देवनागरीके डब्बे (केस) में लगभग ५०० टाइप रखने पड़ते हैं किन्तु अँगरेजीमें प्रायः १५० टाइपोंसे काम निकल जाता है इसलिये नागरीके भी अक्षर कम कर देने चाहिएँ। दूसरी असुविधा यह बतलाई जाती है कि एकाक्षर (मोनो-टाइप) मशीनोंमें इतने अक्षर रखना संभव नहीं हो रहा है। इस शिकायतका मूल अर्थ यह है कि लिपिके लिये मशीनें न बनें बल्कि मशीनोंकी सुविधाके अनुसार लिपि बने। इसपर प्रयागके विद्वान् डौक्टर श्री धीरेन्द्र वर्माने ठीक ही व्यंग्य किया था कि शरीरके लिये कोट नहीं बन रहा है बल्कि कोटके लिये शरीर काटनेका प्रयास हो रहा है।

पहले मुद्रण-यंत्रालयोंमें सब मूल अक्षरोंको मात्रा, रेफ, अनुस्वार, तथा अनुनासिक-सहित रखना पड़ता था और बहुतसे सन्ध्यक्षर रखने पड़ते थे। इसके कारण संख्या बहुत बढ़ जाती थी, किन्तु जबसे 'करन' अर्थात् टाइपके पीछे जगह छोड़कर बनानेकी चाल चली है तबसे काम एकदम सरल हो गया है और केवल निम्नलिखित टाइप रह गए हैं।

ॐ अ इ ई उ ऊ ऋ ॠ❀ ऌ❀ ॡ❀ ए क ख ग घ ङ❀

च छ ज झ ञ❀ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न

प फ ब भ म य र ल व श ष स ह क्ष त्र ज्ञ

क ख ग घ च ज झ ञ ण त थ ध न प फ ब भ म य ल्य

ल व श ष ष्ट स स्त ह क्त क्र ख्र ग्र घ्र ङ्क❀ ङ्ख❀ ङ्ग❀ ङ्घ❀

ङ्ग❀ ङ्क्ष❀ ङ्क्त❀ ड्व❀ ड्य❀ ञ्च❀ ड्ध❀ ड्ग❀ ड्म❀ च्च❀ छ्र

छ्व ज्र ट्क❀ ट्ट ट्ठ ड्ग❀ ड्ड❀ ड्ड ड्म❀ त्त त्र थ्र❀ द्र द्ध द्ध द्य

द्र द्द द्ध द्ब द्भ ध्र द्र ध्य द्व❀ ध्र❀ ञ❀ न्न❀ प्र फ्र ब्र भ्र म्र

व्र ॐ श्र ऌ स्र ह्ण ह्न ह्म ह्य ह्ल ह्व ह्य ा ि ी ु ू ृ ॅ ॆ

ो ौ ं ँ ः ि ी ु ू ृ ॅ े ै ो ौ ॆ ि ी

ु ू ॅ े ै ो ौ ि ी ु ू ॅ े ै ो ौ ि ी

ँ ँ ँ ँ ैं ौं ि ी ु ू ँ ँ ँ ँ ँ ँ ्

ऽ ‸ १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ ० । ॥ ,

; ? ! ( ) " " = — × ÷ +)

- = ≡ ( )) — - -

इस प्रकार सब मिलाकर कुल २३९ टाइप रह जाते हैं। इनमेंसे ऐसे जिनपर तारे लगे हैं वे अधिकतर संस्कृतकी छपाईमें ही काममें आते हैं। सब मिलाकर कुल सौ रेखाङ्कित टाइप ऐसे हैं जिनको 'करन' बनानेकी आवश्यकता है। यद्यपि 'करनके' अक्षरोंमें मात्रा लगानेसे अखंड टाइप जैसी सुन्दरता अभी नहीं आती है तथापि टाइप-बनानेवाले प्रयत्न करके यह दोष मिटा सकते हैं जैसे बम्बैया खंड टाइपवाले करते हैं।

नागरीमें दो प्रकारके टाइप प्रचलित हैं। एक खण्ड दूसरा अखण्ड। खण्ड टाइपमें मात्राएँ अलगसे लगाई जाती है इसलिये उसमें टाइप कम हो जाते हैं किन्तु अखण्डमें मात्राएँ अक्षरोंके साथ ढाली जाती हैं इसलिये उनकी संख्या अधिक हो जाती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि उपर्युक्त २३९ टाइपोंमेंसे बहुतसे टाइप ऐसे हैं जिनका प्रयोग बहुत कम होता है अतः डब्बेमें (केसमें) भरते समय प्रयोग-बाहुल्यके सिद्धान्तसे उसके विभाग कर लिए जायँ तब कंपोजिटरोंको याद करने और कंपोज करनेमें भी सुविधा होगी।

नागरी प्रेसके टाइपोंकी संख्याको कम करनेवालोंको निम्नलिखित सिद्धान्त स्मरण रखने चाहिएँः—

१. नागरीके केसमें संस्कृतका ध्यान रखना होगा और संस्कृत-पुस्तकोंकी लेखन-प्रणालीके अनुसार टाइप रखने होंगे।

२. अरबों रुपयोंकी पोथियोंमें जो छापेकी परम्परा बँध गई है उसके विपरीत कोई टाइप न हो क्योंकि जो नये अक्षर बनाए जायँगे या पुराने अक्षर छोड़े जायँगे उनका सीखना भी नये लोगोंके लिये अनिवार्य्य होगा। फिर वही

उक्ति चरितार्थ होगी कि गए थे रोज़े छुड़ाने नमाज़ गले पड़ी और अबतककी छपी हुई पोथियाँ व्यर्थ हो जायँगी।

(३) नागरीके लगभग तीस हज़ार भारतीय कंपोजिटरोंको जो एक केस याद है उसमें अधिक परिवर्त्तन करनेसे उन्हें दूसरा याद करना पड़ेगा।

(४) ऐसे परिवर्त्तन न हों कि एक टाइपके स्थान पर दो टाइप उठाने पड़ें। अभी कुछ लोगोंने 'इ' के स्थान पर 'अि' लिखना प्रारम्भ कर दिया है। 'इ'में एक टाइप है किन्तु 'अि' में 'अ' और 'ि' दो टाइप लगाने पड़ते हैं। परिश्रम दुगुना होता है और समय भी दुगुना लगता है। फिर इ ई उ ऊ ए ऐ निकाल देनेसे अधिक लाभ क्या होगा। इससे अच्छा तो यह है कि ? ' ! आदि जो अनार्य्य तथा अनावश्यक चिह्न नागरीवाले काममें लाने लग गए हैं उन्हें निकाल बाहर करें।

(५) अक्षर कम होना किसी भाषा या लिपिका गुण नहीं है बल्कि पूर्ण होना लिपिका गुण है अर्थात् एक भाषामें प्रयुक्त जितनी ध्वनियाँ हों उनके लिये उतने ही विशिष्ट चिह्न हों। नागरीमें सन्ध्यक्षरोंको तोड़कर लिखनेके लिये बड़ा प्रयत्न हो रहा है। एक उदाहरण देकर हम यह समझानेका प्रयत्न करते हैं कि सन्ध्यक्षरका एक अपना अलग महत्त्व हो जाता है। 'वाक्' और 'मय' मिलकर 'वाङ्मय' बनता है यदि इसे हम वाङ्‌मय लिखें तो यह पूर्ण शुद्ध न होगा क्योंकि म के साथ मिलकर तो क अपना मूल उच्चारण खो देता है पर अलग रहने पर नहीं। वह 'म' के साथ एकरूप होकर

'ज्ञ' बन जाता है। अतः ऐसे सन्ध्यक्षरोंको मिलाकर छापनेमें ही भाषाका कल्याण है। हम उर्दू लिपिको इसीलिये तो दोष देते हैं कि उसमें 'परकार' और 'प्रकार'में कोई भेद नहीं है। यदि हम भी 'प्रकार'को 'प्‌रकार' लिखने लगें तो नागरी अक्षरोंसे परिचय-प्राप्त व्यक्ति 'परकार' ही पढ़े-लिखेगा। उन्हें कहाँ-कहाँ तक आप या हम बताते फिरेंगे कि 'प'के नीचे हल लगा है इसे आधा पढ़ो। किन्तु 'प्र' वैसे ही एक स्वतः अक्षर बन जाता है जैसे प्‌ और अ के संयोगसे 'प'। नये मतवालोंके अनुसार 'पण्डित' लिखना होगा तो लिखेंगे पण्‌डित। फिर दूसरी झंझट यह है कि यदि सन्ध्यक्षरोंमें हलन्त अक्षरोंका प्रयोग करते हैं तो इस नियमके अनुसार हमें 'कहना' लिखना होगा तो इस प्रकार लिखेंगे—'क्‌अह्‌अन्‌आ'। फिर तो हमारी लिपि प्रदर्शिनीमें रखने योग्य वस्तु हो जायगी। अतः इन उपर्युक्त सिद्धान्तोंको दृष्टिमें रखकर नागरी लिपिमें तथा नागरी टाइपके अक्षरोंमें परिवर्त्तन करनेकी आवश्यकता नहीं है। हाँ, जैसे करनकी चाल चली है उसी प्रकार टाइपमें ही मात्रा, रेफ तथा अनुस्वार भरनेका यदि प्रबन्ध हो जाय तो प्रेसवालोंकी कठिनता भी कम हो जाय। करनके प्रचारसे यह असुविधा बिलकुल कम हो गई है। यह हम पीछे समझा ही चुके हैं कि नागरी अक्षर अँगरेजी अक्षरसे अधिक स्थान नहीं छेंकते।

एक महोदयने रेफ चढ़ानेकी अत्यन्त हास्यास्पद रीति निकाली है। वे 'सर्वोदय' शब्दको छापते हैं 'स‍र्वोदय'। यह

तो नागरीकी प्रकृतिके ही विपरीत है। शिरोरेखाके बीचमें त्रिशंकुके समान लटकनेवाले बेचारे 'र' के साथ हमारी सहानुभूति है। पर यह रीति कहाँसे आई हम नहीं जानते क्योंकि इस प्रकार अक्षर टाँगनेकी बेढंगी प्रणाली संसारकी किसी लिपिमें नहीं है। बीचमें 'र' क्यों लटकाया गया इसका प्रमाण किस लिपिशास्त्र या कलाशास्त्रके आधार पर किया गया है इसका भी उल्लेख प्रयोक्ता महाशयने नहीं किया है। हम इस प्रकारके परिवर्त्तनकारियोंको दोष नहीं देते। यह तो अपनी-अपनी रुचि है कोई चाहे कैसे भी लिखे। द्रविड़ प्राणायाम करनेवालोंको कोई रोक तो सकता नहीं है पर इन लिपिवालोंको अपनी लिपिका अलग नामकरण कर देना चाहिए, नागरी या देवनागरी लिपि नहीं कहनी चाहिए। 'ललितविस्तरमें' लिखा है कि उस समय (ईसाकी पहली या दूसरी शताब्दीमें) चौंसठ लिपियाँ प्रचलित थीं किन्तु उनमें प्रधानता ब्राह्मी और खरोष्ठीकी ही थी। इसी प्रकार जब इस युगकी लिपियों-का वर्णन होगा तो उसमें देवनागरीका पहले स्थान होगा, इसके पश्चात् अन्य लिपियाँ भी गिनतीके लिये गिना दी जायँगी।

टप-लेखन

टाइप करनेकी मशीनमें दो झटके होते हैं और इन दोनों झटकोंमें प्रायः अट्ठासी (८८) अक्षर तक आ सकते हैं। इसके अक्षरोंकी सूची बनाते हुए हमें संस्कृतका ध्यान तो रखना ही होगा। अतः नीचेकी तालिकामें हमारे

सभी अक्षर आ जायँगे।

ॐ	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०
+	—	=	(	)	'	,		-	×	ह्व
क्ष्	ऽ	इ	ः	व्य	ट	ट	्	ॄ	·	ॆ
अ	इ	उ	ल	ए	ा	ा	ॢ	़	.	े
क	ठ	ड	ढ	ए	ि	ौ	ं	ङ	ँ	
क	ख	ग	ढ	च	ी	ो	भ	झ	^	` /
ष	ढ	छ	श	श्च	छ	ऋ	ृ	,	ञ	:
ब	ज	त	स	द	न	प	ब	।	ह	र

इसमें ४४ बटन लगाकर ८८ टाइप लगाए गए हैं। इनमें वे अक्षर आधे ही लिए गए हैं जिनके आगे एक खड़ी पाई देनेसे काम चल जाता है जैसे ग में ा लगनेसे ग बन जाता है। ऊपर दिए हुए अक्षरोंमें ई नहीं है जो इ तथा ॆ को मिलानेसे बन जाती है। इसी प्रकार ऊ, भ, फ भी क्रमशः उ, भ, तथा प में सातवी पंक्तिका आठवाँ चिन्ह (ृ) लगा देनेसे ठीक बन जाते हैं। यह क्रम अक्षरोंके प्रयोगके अनुसार रक्खा गया है।

अनुद्रुत लिपि

अँगरेजीमें जिसे शौर्टहैण्ड कहते हैं उसे नागरीमें त्वरा-लिपि, शीघ्र-लिपि आदि कई नामोंसे पुकारा जाता है। इसका पुराना नाम 'ललितविस्तरमें' अनुद्रुत लिपि कहा

गया है। इस लिपिका उद्देश्य यह होता है कि किसी भी वक्ताकी वाणी लिपि-बद्ध कर ली जाय। आजकल कौंसिलोंमें सभाओंमें, कक्षाओंमें व्याख्यान ही व्याख्यान होते हैं जिनकी अपनी उपयोगिता होती है। अतः अनुद्रुत लिपि प्रत्येक शिक्षित व्यक्तिको जाननी चाहिए और विद्यार्थियों, राजनीति-विशारदों तथा समाजसेवियोंके लिये तो यह अमूल्य वस्तु है। हम यहाँ कोई लिपि प्रस्तुत नहीं करते। केवल लिपि बनानेके सिद्धान्त बताकर बस करते हैं। काशीके पण्डित निष्कामेश्वर मिश्रजीने जो प्रणाली निकाली है उसके अनुसार एक मिनटमें १६० शब्द लिखनेवाले अनुद्रुत-लेखक उपस्थित हैं अतः उनकी प्रणाली ही सर्वग्राह्य है। यद्यपि और भी कई अनुद्रुत लिपियाँ प्रचलित हैं किन्तु उनमें इतनी गति नहीं प्राप्त हो सकती। लिपि बनानेके सिद्धान्त ये हैं।—

(१) चिह्न यथासंभव गोल हों जिसमें लिखते हुए पेंसिल न रोकनी पड़े।

(२) एक ही प्रकारके चिह्न मोटे या पतले दो प्रकारसे न लिखे जायँ क्योंकि पेंसिलसे लिखनेमें मोटा-पतला बनाना कठिन होता है।

(३) अत्यन्त प्रचलित वाक्यों, उक्तियों तथा प्रयोगोंके चिह्न पृथक् हों।

(४) ध्वनिके अनुसार चिह्न हों जिनसे किसी भी भाषाको लिपिबद्ध किया जा सके।

प्रूफ-संशोधन

इसी प्रसंगमें हम एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषयकी ओर हिन्दीके अध्यापकोंका ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं, वह है प्रूफ-संशोधन। नित्य हमें निमन्त्रणपत्र, अभिनन्दनपत्र इत्यादि छपवाने पड़ते हैं। उनके लेखक प्रायः स्कूल-कौलेजोंके भाषाके अध्यापक ही होते हैं। वे लिखकर तो दे देते हैं किन्तु जब वह प्रेससे कंपोज होकर आता है तो वे प्रेसकी बातोंसे अनभिज्ञ होनेके कारण उसे पूर्णतः शुद्ध नहीं कर पाते। अतः यहाँ हम प्रूफ-संशोधन करनेकी विधि स्पष्टतया बता देते हैं जिससे नागरी भाषा और हिन्दी साहित्यके अध्यापकको सरलता हो।

प्रूफ देखनेके निम्नलिखित संकेत हैं जिन्हें प्रत्येक कंपोजिटर पहचानता है। नीचे प्रत्येक चिह्नके आगे उसका अर्थ भी समझा दिया है।

// रेखाङ्कित भाग टेढ़े अक्षरोंमें करो।

अंतर कम करो।

पंक्तिके शब्दोंके बीच ठीक अंतर दो।

उल्टा कौमा लगाओ।

मध्य आकार की पड़ी पाई लगाओ।

व/ यदि टाइप बदलवाना हो तो एक पड़ी पाई देकर उस पर उस टाइपका पहला अक्षर लिख देना चाहिए जिस टाइपका प्रयोग करना हो। यहाँ व का अर्थ वम्निक टाइपसे है।

निकाल दो।

यह निकालकर मिला दो।

अलग करो।

मिला दो।

दबा दो (स्पेस उभड़ जाने पर)।

इधरका उधर करो।

भूलसे कटा है ज्योंका त्यों रहने दो।

बीचमें डालो।

मात्रा छूटी है लगाओ।

बाएँको खींचो।

दाएँको खींचो।

एकसाथ चलाओ। नया अनुच्छेद नहीं है।

यहाँसे नया अनुच्छेद है।

अक्षरोंको एक सीधमें करो।

पंक्तियोंको एक सीधमें करो।

X ठीक करो, सीधा करो, टाइप बदलो।

दूसरे आकारका (फौण्टका) अक्षर है बदलकर ठीक करो।

कभी कभी दो पंक्तियोंके बीचमें स्थान कम रहता है या अधिक रहता है वहाँ पंक्तियोंके बीचमें रेखा खींचकर दाईं या बाईं ओर अलग करने या अंतर कम करनेवाला चिह्न बना देना चाहिए।

कभी कभी कम्पोज करनेवाले भूलसे कुछ सामग्री छोड़ कर आगे बढ़ जाते हैं। ऐसे स्थानों पर उस स्थानके बीचसे रेखा खींचकर एक ओर 'प्रेस छूट—कापी देखो' लिख देना चाहिए और साथ ही कापीकी पृष्ठसंख्या भी लिख देनी चाहिए तथा पाण्डुलिपिमें उतने अंशको रेखांकित कर देना चाहिए। नीचे प्रूफ-संशोधनका उदाहरण दिया जाता है।

नीचे लिखी सामग्री मुद्रण-यंत्रालयमें छपनेको दी गई—

एक खिलाडी बालक

मोहन अपने गाँवका सबसे बढ़कर नटखट बालक समझा जाता था। उसके धनहीन माँ-बाप सब तरहसे उसे समझा-बुझाकर थक गए और उसे उन्होंने मारपीटकर घरसे बाहर निकाल दिया।

वह गाँवसे बाहर निकलकर सड़कपर आ बैठा तो देखता क्या है कि अपने बिलोंकी ओर जाती हुईं छोटी-छोटी चींटियाँ बड़े वेगसे चली जा रही हैं।

"भले बनो नटखटपन छोड़ो।
काम करो घरमें धन जोड़ो।"

इसका प्रूफ इस प्रकार मुद्रण-यंत्रालयसे आया है—

एकक खिलवाड़ी बालक

मोहनअपने गाँव का ▪ मबसें बढ़कर नटखट बाकल सकभ्का था जाता उसके धनहीन मा—बाप सब तरहसे उसे सभ्काबुभ्काकर थक गए

आर उसे मा:पटक: घ:से वाह: निकाप

दया। वह गांवसे बाहर निकलकर सड़कपर आ बैठा तो देखता क्या है कि छोटी-छोटी चोटीया बड़े वेगसे चली आ रही है

भले बनो नटखटपन छोड़ो।

काम करो घरमे धन जोड़ो॥

उपर्युक्त लेखका संशोधन इस प्रकार होना चाहिए—

एक खिलाड़ी बालक

मोहन अपने गाँव का सबसे बढ़कर नटखट बालक समझा जाता था। उसके माँ-बाप सब तरहसे उसे समझाबुझाकर थक गए और उन्होंने उसे मारपीटकर घरसे बाहर निकाल दिया। वह गाँवसे बाहर निकलकर सड़कपर आ बैठा तो देखता क्या है कि छोटी-छोटी चींटियाँ बड़े वेगसे चली आ रही हैं।

भले बनो नटखटपन छोड़ो।
काम करो घरमें धन जोड़ो॥

अशुद्धियाँ ठीक करके मुद्रण-यंत्रालय • इस प्रकार छापकर देगा—

एक खिलाड़ी बालक

मोहन अपने गाँवका सबसे बढ़कर नटखट बालक समझा जाता था। उसके धनहीन माँ-बाप सब तरहसे उसे समझा-बुझाकर थक गए और उसे उन्होंने मारपीटकर घरसे बाहर निकाल दिया।

वह गाँवसे बाहर निकलकर सड़कपर आ बैठा तो देखता क्या है कि अपने बिलोंकी ओर गाती हुई छोटी-छोटी चींटियाँ बड़े वेगसे चली जा रही हैं।

'*भले बनो* नटखटपन छोड़ो।
काम करो घरमें धन जोड़ो॥'

कुछ प्रूफ-संशोधक लोग बहुत रेखाएँ खींचकर प्रूफ बड़ा गंदा कर देते हैं जिसको देखकर कंपोजिटर खीझ उठते हैं। ऐसा कभी न करना चाहिए। प्रूफका संशोधन उसी प्रकार स्पष्टतासे करना चाहिए जैसा ऊपर दिखलाया गया है। स्थान न रहने पर बहुत स्वच्छ रीतिसे रेखा खींचनी चाहिए जैसे ऊपर प्रूफकी छठी पंक्तिमें 'उन्होंने' बनाया गया है। कभी कभी कंपोजिटर टाइप घट जाने पर उस अक्षरको बड़े विचित्र ढंगसे बना देते हैं जैसे 'ब' के घट जाने पर इस तरह 'ब' (आधे ब में आकारकी मात्रा) बना देते हैं। प्रूफ संशोधनके समय खूब ध्यान रखना चाहिए और ऐसे

अक्षरोंको काटकर निकाल देना चाहिए। कभी-कभी प्रूफमें एक विशेष अक्षरके स्थान पर कई उल्टे अक्षर लगे हुए मिलेंगे। ऊपर दिए हुए प्रूफकी छठी पंक्तिमें 'र' के स्थान पर उल्टा आधा स (स) लगा हुआ है। इसको टन्नप ('टन्ड अप'का अपभ्रंश) कहते हैं। इसका अर्थ यह होता है कि कंपोज करते समय यह टाइप केसमें (डब्बेमें) चुक गया है।

संशोधन एक क्रमसे करना चाहिए। कभी-कभी कुछ महाशय अक्रम संशोधन करते हैं और कंपोजिटर भी उसी प्रकार संशोधन कर देते हैं। फल यह होता है कि शुद्ध होनेके बदले वह और भी अशुद्ध हो जाता है। प्रूफ-संशोधन एक कला है। इसका भली प्रकार अभ्यास कर लेना चाहिए।

२५

सयानोंकी शिक्षा

हमारे देशमें अनिवार्य्य शिक्षा न होनेके कारण अभी लगभग तिरासी प्रतिशत स्त्री-पुरुष ऐसे हैं जिनके लिये काला अक्षर भैंस बराबर है। इस समय देशमें एक सांस्कृतिक और राजनीतिक जागर्त्ति हुई है किन्तु शिक्षाकी कमीके कारण उस जागर्त्तिका न तो वास्तविक उपयोग किया जा सकता है न उसे चिरस्थायी बनाया जा सकता है। वह जागर्त्ति झंझाके समान प्रबल तो है किन्तु उतनी ही अस्थिर भी है। उसका कारण यही है कि उसमें शिक्षाका अभाव है।

राजनीति-विचक्षणोंका विचार है कि प्रत्येक सयानेमें पाँच प्रकार के भाव होने चाहिएँः—

१. भाषाका भाव—सामाजिक जीवनमें कमसे कम जितनी लिखने-पढ़नेकी आवश्यकता पड़ती है उतना ज्ञान अवश्य हो अर्थात् अक्षर-ज्ञान, पत्रादि लिखनेका ज्ञान तथा अपने भाव उचित भाषामें प्रकट कर सकनेका ज्ञान हो।

२. नागरिकताका भाव—अपने गाँव या नगरके राज-कर्मचारियोंसे सम्बन्ध, उनसे व्यवहार, परस्पर सद्भाव तथा सेवा, सड़क, रेल तथा डाकके साधारण नियमोंसे परिचय हो।

३. स्वास्थ्य-भाव—अपने शरीर, घर, पास-पड़ोसको स्वच्छ रखना, आकस्मिक चोट लगने या बीमार होने पर तात्कालिक कर्त्तव्य जानना, नशेबाजीसे दूर रहना।

४. व्यावसायिक भाव—अपने गाँव या नगरमें उत्पन्न या तैयार हो सकनेवाली वस्तुओंका ज्ञान तथा उनके विक्रय-स्थानोंका ज्ञान हो। खेतसे या खेतके बाहर उत्पन्न होने-वाले पदार्थोंसे क्या लाभ उठाया जा सकता है इसका ज्ञान हो। अपना हिसाब-किताब रखने तथा आमदनीसे अधिक खर्च न करनेकी बुद्धि हो।

५. देशभक्तिका भाव।

उपर्युक्त भावोंको पुष्ट और उन्नत बनानेके लिये सयानोंको दो प्रकारसे शिक्षा देनी चाहिए। एक तो कक्षा-प्रणाली द्वारा और दूसरे प्रचार द्वारा। भाषा सिखानेके लिये तो कक्षा-प्रणालीका प्रयोग आवश्यक है किन्तु कक्षा-प्रणालीकी व्यवस्था करनेसे पूर्व सयानोंकी मनोवृत्ति, भारतकी आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियोंका ध्यान रखना भी अपेक्षित है। सयानोंको शिक्षा देनेवालोंको नीचे लिखी बातें समझ लेनी चाहिएँ।

१—सयानेको बालक न समझो, वह निरा अबोध नहीं होता। उसने अनुभव तथा सम्पर्कसे बहुत सा ऐसा ज्ञान

संचित कर लिया है जो संभवतः उनका अध्यापक भी न जानता होगा। उसकी बुद्धि पक गई है, उसकी विचार-धारा नियमित हो चुकी है, उसके संस्कार बन चुके हैं। अतः उसकी बुद्धि, विचारधारा और संस्कारको माँजने भरकी कसर है। उसे सैकड़ों, हजारों दोहे और चौपाई कण्ठस्थ हैं। उसे अक्षर-ज्ञान करा दीजिए, उसकी स्मृति और मेधा स्वयं अपनी सामग्री जुटा लेंगी।

२—वह सामाजिक प्राणी हो गया है, उसे अपनेसे छोटे लोगोंकी कक्षामें बैठनेमें लज्जा लगती है, संकोच होता है। अवस्थामें या पदमें अपनेसे छोटे व्यक्तिको भाषा-ज्ञानमें उन्नत होते देखकर वह भाग खड़ा हो सकता है।

३—भारत दीन देश है। उसके पास पेट भरनेके साधन भी नहीं हैं। वह पढ़ाईके लिये पैसा कहाँसे लावे। करदाता पहलेसे ही बोझसे दबे हैं, उन्हें और दबाना अन्याय है।

४—हमारे देशमें अनेक मत और सम्प्रदाय हैं। सबकी सांस्कृतिक आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न हैं। एक सीताराम रटता है तो दूसरा राधेश्याम जपता है।

५—ऊँची जातिके लोग छोटी जातिके अध्यापकोंसे पढ़ना बुरा समझते हैं।

६—हमारे देशके किसानको वर्षमें केवल पन्द्रह दिनकी छुट्टी तब मिलती है जब वह अनाज काटकर घरमें रख चुकता है। दिन भर काम करके सन्ध्या समय वह पढ़नेमें जी नहीं लगा सकता।

७—सामाजिक, धार्मिक तथा जातीय पर्वों और

उत्सवोंके कारण यह सन्ध्याकी पढ़ाई भी निरन्तर अधिक दिनों तक नहीं चल सकती। सयाने लोग दस दिनसे अधिक कक्षा-प्रणालीमें नहीं ठहरते। उन्हें शीघ्र ज्ञानकी आवश्यकता है। वे प्रतीक्षा नहीं कर सकते।

इन सब बातों पर विचार करके हमने केवल दस दिनकी कक्षा-शिक्षाका विधान किया है जिसमें बिना व्ययके अक्षर-ज्ञान करा दिया जाय। इस प्रणालीमें नागरी वर्णमालाके क्रमका भी ध्यान रक्खा है साथ ही सयानोंकी मनोवृत्तिका भी ध्यान रक्खा है। पहले ही दिनसे वे शब्द और वाक्य बनाना सीख जाते हैं। इसलिये उन्हें ढाढ़स हो जाता है और उन्हें पढ़ना भी नहीं अखरता।

पहले विशेषकर पूर्वीय प्रान्तोंमें जमीन पर लम्बे तख्तेकी तरह मिट्टी थोड़ी ऊँचाई तक बिछाकर उसे पीटपाट कर काली कर देते थे और उसी पर पंक्तिमें बैठकर खड़ियासे लिखते थे। प्रायः गङ्गा या सरयूकी मिट्टीकी ही लम्बी-लम्बी कलम सी मोटी पिण्डी बनाकर काममें लाते थे। इसीको पाठकी शिक्षा कहते हैं। यह पद्धति हमारी बहुत पुरानी है। खड़ियासे लिखनेकी प्रथाका थोड़ा संकेत नैषधकार-ने भी अपने नैषधीयचरितमें किया है। आजकल हमारे स्कूलोंमें काठकी पट्टियों एवं स्लेटोंने अपना अधिकार जमा लिया है। धीरे-धीरे सूखी खड़ियाको छोड़ हम गीली खड़ियासे कलमसे लिखने लगे और ऊँची कक्षाओंमें कागज पर स्याहीसे। इससे कपड़े एवं शरीरके गन्दे होनेका भय तो सदा बना रहता है। प्राइमरीके छात्र तो इसीसे कालेसे हो

जाते हैं और सयाने भी उसके प्रयोगसे गन्दे हो जा सकते हैं। अतः बालू बिछाकर उँगलीसे लिखवाकर लोगोंको वर्णज्ञान कराना चाहिए। थोड़ा सीखनेके बाद फिर पतली लकड़ियों द्वारा लिखाया जाय। यह विधि इस दरिद्र भारतके लिये बहुत ही सुलभ और सुगम है। इसमें कपड़े एवं शरीरकी गन्दगीका कोई अवसर ही नहीं आता और बिना पैसेके काम चल जाता है।

सयानोंको भाषा-शिक्षा देनेके कुछ नियम

सयानोंकी पाठशालाओंमें शिक्षा देनेवाले शिक्षकोंकी सुगमताके लिये निम्नाङ्कित बातें जाननी परमावश्यक हैं।

क. जमीन पर बालू बिछाकर उँगली या लकड़ीसे अक्षरका ज्ञान कराना।

ख. व्यवहारमें आनेवाले शब्दोंका संग्रह कर उनका उपयोग करनेकी शैली बताना।

ग. पढ़ना सिखाना।

(१) अक्षर-ज्ञान हो जाने पर ऐसी पुस्तकें उनके सामने रक्खी जायँ जिन्हें वे जानते हों या कमसे कम जिनके नाम से वे परिचित हों जैसे रामायण, हनुमान-चालीसा आदि।

(२) चार्ट बनाकर ऐसे शब्दोंके आकार-प्रकारसे उन्हें परिचित करा देना चाहिए जिन्हें वे पहले जान चुके हों। विशेषकर ऐसे शब्दोंकी ओर उनका ध्यान अवश्य दिलाना चाहिए जो उनके दैनिक कार्योंमें व्यवहारके रूपमें आते हों जैसे देवताओं, महापुरुषों, दिन-मासोंके नामादि।

घ—प्रौढ़ोंके लिये पुस्तकालय या वाचनालय विशेष हितकर नहीं सिद्ध हो सकते क्योंकि उनके पास इतना समय ही कहाँ है। रामायण ही उनका पुस्तकालय हो जो सदा उनके साथमें रहे और जिससे वे जंगम पुस्तकालयका काम ले सकें। वाचनालयोंकी व्याधि से उन्हें बचाना होगा। कारण यह कि आज जैसी सिद्धान्त-हीन पत्र-पत्रिकाएँ अपना प्रचार मात्र करनेके लिये निकाली जा रही हैं उनके पढ़नेसे मानव-समाज अपना स्वतन्त्र विचार नहीं रख सकता। दूसरे हमारे पारस्परिक विद्रोहके कारणोंमें ये पत्र भी एक कारण हैं।

ङ—सङ्गीत तो जीवनमें आनन्द लानेके लिये बड़ी ही अद्भुत वस्तु है। प्राचीन पद्धतिकी तरह यदि उन्हें ढोल और झाँझ पर भजन आदि गाने को प्रवृत्त कर सकें तो इससे उनका बहुत हित हो सकता है।

स्थानीय उत्सवोंकी व्यवस्था

च. जिस स्थानमें प्रौढ़ पाठशाला हो वहाँके उत्सवों पर ध्यान रखना होगा। जिस व्रत या उत्सवका समय आवे उसका रहस्य बता कर उसकी विधि भी बतानी चाहिए और जो उसमें कोई तात्कालिक दोष आ गए हों उन्हें उनकी सम्मतिके अनुसार परिवर्त्तन करनेका प्रयत्न भी करना-कराना चाहिए। ऐसा न हो कि हमारे इस कामसे उन लोगोंके अन्तःकरणमें किसी प्रकारकी चोट पहुँचे। इस अवसर पर शिक्षकको अपनी संस्कृतिकी छाप उन लोगों पर नहीं डालनी चाहिए। जैसी उनकी संस्कृति

या प्रवृत्ति हो तदनुसार ही उसमें संशोधन या परिवर्द्धन उचित होगा।

व्याख्यानसे अधिक रुचिकर एवं हितकर पुराणों एवं शास्त्रोंकी कथा-वार्त्ता एवं प्रवचन होंगे। यद्यपि नगरोंकी हवा कुछ बदल सी गई है पर देहात अभी बहुत कुछ प्राचीनतासे बँधे है। उन्हें पुराणोंकी कथा बड़ी प्रिय एवं रुचिकर होती है। हाँ, इस कार्यमें इस बातका ध्यान रखना होगा कि जो कथावाचक हों वे उसके पूर्ण मर्मज्ञ और अपने भावोंको प्रकट करनेमें कुशल कलाकार हों। साथ ही उनका चरित्र बड़ा स्वच्छ एवं सरल हो जिसका प्रतिबिंब उनके हृदय पर पवित्र पड़े। उत्सवों या कथाओंमें हमें एक बातका ध्यान रखना होगा कि वहाँके किसी प्रकारके व्यवहारसे किसीकी जातिगत या व्यक्तिगत भावनाओंको किसी प्रकारकी चोट न लग सके।

छ—सयानोंको इतनी शिक्षा देनी चाहिए जिससे वे पूर्ण नागरिक बन जायँ अर्थात् वे बोलने एवं लिख लेनेमें किसी प्रकारका संकोच न कर सकें। कहीं उन्हें ऐसा न प्रतीत हो कि मैं बोल नहीं सकता या लिख नहीं सकता। वे अपने जीवन-संग्राममें एक वीरकी तरह उन्नतमना होकर सफल कहे जायँ। ऐसा न हो कि उन्हें स्टेशनों, डाकखानों, बैङ्कों या कचहरियोंमें अपना काम कर लेनेमें किसी प्रकारकी कठिनाई या जानकारीकी कमीका अनुभव करना पड़े।

सयानोंके लिये दस दिनका भाषा-शिक्षण-क्रम

पहले दिन

१

अ ा इ ि उ ऋ ए ं
ि ी ु ृ े ै ो ौ ं ँ
आ आओ आइए
आऊँ आई एँ
ए उइ

दूसरे दिन

२

क ख ग घ य र ल व

कई, आँख, आग, कंघी, गाओ, गऊ, गए गई, कौआ, कौए, घर, गाय, लाओ आदि

कई कौए आगए।

कल गऊ गई। घर वाले आए।

घायकी आँख आ गई।

आग आई। कंघी लाओ। इत्यादि।

तीसरे दिन

३

च छ ज झ श स ह

चाक, चोंच, छक, छाज, झाँझ, जाँच; कान, काँच, खोंच, खोज, खीझ, गच, गज, चक्की आदि।

(इन शब्दोंसे वाक्य बनाकर यथापूर्व अभ्यास कराया जाय)

चौथे दिन

४

ट ठ ड ढ त थ द ध न

काँटा, टाँका, टका, टोकरी, ठेला, डलिया, डोला, ढोल, ढाक, ढूँढ़ो, ढूँढ़ी, ढेला, घोड़ा, गधा, ऊँट आदिसे वाक्य बनाकर यथापूर्व सिखाया जाय।

पाँचवें दिन

५

प फ ब भ म श्री द्य द्द ट्ठ ड्ड त्त प्र

श्रीराम, आद्या प्रसाद, गद्दा, लट्ठा, भद्दा, भड्डर, पत्ता, प्रान, आप, नागफनी, फुनगी, फाग, फगुआ, भाग, भंगी आदि शब्दोंसे वाक्य बनाकर सिखाया जाय जैसे—

हमारे गाँवमें कोई आलसी नहीं है।

छठे दिन

६

उक्तियाँ, दोहे आदि सिखाए और लिखाए जायँ जैसे—

साँच बरोबर तप नहीं झूठ बरोबर पाप।
जाके हिरदे साँच है वाके हिरदे आप॥

सातवें दिन

७

सम्बन्धियोंको पत्र लिखना सिखाना, सौ तक गिनती गिनाना।

आठवें दिन

८

निमन्त्रण-पत्र आदि लिखना सिखाना। जोड़ना और घटाना।

नवें दिन

९

पोथी पढ़वाना। रुपये पैसेका हिसाब रखना सिखाना।

दसवें दिन

१०

रामायण पढ़वाना। पाठ समाप्त।

इसका तात्पर्य्य यह है कि थोड़े-थोड़े अक्षर नित्य सिखाए जायँ। एक घण्टेसे अधिक पाठ न पढ़ाया जाय। बार-बार अक्षर, शब्द तथा वाक्य दुहराकर लिखवाए जायँ। गणित भी केवल जोड़ने घटाने तक ही परिमित रहे।

इस ज्ञानको चिरस्थायी बनानेके लिये यह आवश्यक है कि सयानोंकी रुचिके अनुसार उनके योग्य ग्राम-गीतों (कजरी, आल्हा, इत्यादि) तथा रामायणकी पोथी मोटे अक्षरोंमें छपी हुई दी जाय जिससे उनकी सुरुचिकी रक्षा भी हो और उनका भाषाज्ञान बढ़ता रहे। आजकल सयानोंके लिये

कुछ पोथियाँ लिखी गई हैं जिनमें केवल कोरे उपदेश भरे रहते हैं या फिर कौंसिल, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड इत्यादिके संगठनका विवरण रहता है। हम पहले कह चुके हैं कि सयानोंको एकदम ज्ञानशून्य, मूढ़ और जड़ नहीं समझ लेना चाहिए। जो पाठ्य-सामग्री उन्हें दी जाय वह रुचिकर हो।

× × × × ×

अन्धोंको पढ़ानेका विधान

हमारे देशमें अन्धोंकी समस्या भी कठिन हो गई है। कुछ लोग तो जन्मान्ध हैं किन्तु कुछ लोग किसी रोगके कारण अन्धे हो जाते हैं। ऐसे लोग हमारे देशमें बेकार समझे जाते हैं। दूसरे उन्नत देशोंमें इन्हें बेकार नहीं रहने दिया जाता और इन्हें उचित शिक्षा दी जाती है। भारतमें भी कुछ स्थानों पर अन्धोंके स्कूल हैं जहाँके विद्यार्थियोंने हाई स्कूल, इण्टर और बी० ए० तक पास कर लिया है। इन लोगोंके लिये लिखने और पढ़नेकी पद्धति ब्रेल-पद्धति कहलाती है।

ब्रेल-पद्धति

एक लकड़ीके तख्ते पर एक पीतलका यन्त्र लगा देते हैं जिसमें दो पंक्तियोंमें चौबीस छोटे-छोटे चौकोर घर बने रहते हैं। एक एक घरमें इस प्रकार (⁝ ⁝) छः छेद बनानेके चिह्न बने रहते हैं। इस यन्त्रके बीचमें मोटा कागज फँसा दिया जाता है और फिर एक प्रकारके सूएसे अक्षरके अनुसार दाएँसे बाएँको छेद करते चले जाते हैं। छेद कर

चुकने पर कागज निकाल लेते हैं। उसको उलटकर देखनेसे उभड़े हुए छेदोंको टटोल-टटोलकर अन्धे लोग पढ़ते हैं। उनकी नागरी-वर्णमालाके चिह्न इस प्रकार हैं—

इन छः बिन्दुओंके भी अलग-अलग नाम हैं जैसे—

बाएँ		दाएँ
१ ·		· २
३ ·		· ४
५ ·		· ६

अन्धे बालकोँको यदि क ख ग पढ़ाना होगा तो पहले उन्हेँ यह याद कराया जायगा—

एक दो तीन पाँच (क) (ऊपर देखिए)

एक दो पाँच (ख) (,,)

एक दो चार छः (ग) (,,)

जब यह क्रम याद हो जायगा तब उन्हेँ पहले बड़ी-बड़ी पत्थरकी गोलियोँ पर फिर कीलोँकी बनी हुई पटरी पर और फिर उपर्युक्त कागजोँ पर छुआकर अभ्यास कराया जायगा। इस प्रकार अन्धे लोग लिखते और पढ़ते हैँ। उन लोगोँकी सभी पुस्तकेँ इन्हीँ उठे हुए अक्षरोँमेँ बनाई जाती हैँ।

२६

परीक्षाके उद्देश्य और उसकी व्यवस्था

आजकल हमारी शिक्षा-प्रणालीमें जो दोष आगए हैं उनका मूल कारण हमारी परीक्षा-प्रणाली है। हम पढ़ानेके लिये परीक्षा नहीं लेते वरन् परीक्षाके लिये पढ़ाते हैं। परीक्षा प्रारंभ होनेसे कुछ पूर्व अध्यापकों तथा छात्रोंकी संपूर्ण शक्ति यह पता चलानेमें लग जाती है कि अमुक पर्चा किसका है, वे कैसे हैं, किस प्रकारके प्रश्न देते हैं आदि। यह ज्ञान हो गया तब तो बहुत कुछ बोझ हलका हो गया। यदि कुछ भी पता न चला तो पूछी जाने योग्य (इम्पौर्टैंण्ट) बातों पर अटकल लगाई जाती है। अध्यापक लोग अपने-अपने अनुभवकी दुहाई देकर पुस्तककी पंक्तियोंके नीचे लाल-लाल रेखाएँ खिचवाते हैं। बेचारा भारतका विद्यार्थी अनाश्रित, पीड़ित और अन्धभक्त, गुरुवचनकी नावका सहारा लेकर परीक्षा-नदीमें कूद पड़ता है और पार भी हो जाता है। पर जो कुछ उसने वर्ष भरमें पढ़ा-लिखा है उसमें-

का कितना प्रतिशत ज्ञान उसने ग्रहण किया है इसका कुछ पता नहीं चलता।

अब परीक्षा-प्रणाली पर आइए। कंजूस भी अपने धनको इतने जतनसे नहीं रखते जितने जतनसे रजिस्ट्रार या हेड-मास्टर लोग परीक्षाके पर्चोंको रखते हैं। मुहरबन्द लिफाफ़े, लोहेके सन्दूक और छः लीवरके भारी ताले उनकी रक्षा करते हैं। इसे परीक्षा-नीति कहते हैं। इसके कानून संसारसे अलग हैं। एक चोर चोरी करता है तो उसे छः महीनेकी सजा होती है, किन्तु जब एक बालक परीक्षा-भवनमें एक कागजका टुकड़ा ले जाता है—जानकर या अनजानमें—तो उसे कमसे कम दो वर्षकी सजा मिलती है, दो वर्ष फीस देनी पड़ती है और मानसिक यातनाओंका नरक उसके लिये खुल जाता है। स्कूलका प्रत्येक व्यक्ति उसकी ओर उँगली उठाता है, समाज उसे निकम्मा ठहराता है, घरवाले उसे कुलकलंक समझते हैं। चोर और हत्यारोंसे भी बुरी उसकी दुर्दशा हो जाती है। चालीस बरसके ऊपरसे शिक्षामें मनोविज्ञानका डङ्का पीटा जा रहा है पर परीक्षाके समय वह भी तालेमें बन्द कर दिया जाता है।

हमारे परीक्षकों और निरीक्षकोंकी तो बात न पूछिए। वे इसी ताकमें लगे रहते हैं कि कब कोई जँभाई लेता हुआ, किसीकी ओर देखता हुआ दृष्टिगोचर हो, कब किसीकी जेबमेंसे कागजका टुकड़ा झाँके और वे उसे पकड़ें। मनोविश्लेषण-शास्त्रियोंका कहना है कि जो दूसरोंके दोष निकालनेका प्रयत्न करते हैं वे स्वयं दोषी

होते हैं। ऐसे अध्यापकोंको शिक्षाके पवित्र क्षेत्रको छोड़ कर पुलिसमें नौकरी ढूँढ़नी चाहिए। ठीक यही बात परीक्षकोंकी है। उनके पास जब परीक्षाकी कापियाँ जाती हैं तो वे भाग्य-विधाता बनकर, सत्यवादी हरिश्चन्द्र तथा सैकोपांजा न्यायकर्त्ताके अवतार बन तौल-तौल कर नम्बर देते हैं, कापियाँ भी पूरी नहीं पढ़ते, पुरानी शत्रुता भी निकालते हैं। ऐसे सभी परीक्षकोंको चायकी दूकान खोल लेनी चाहिए।

स्मरण रखिए — शिक्षक सदा शिक्षक होता है चाहे वह परीक्षा-भवनमें हो या परीक्षकके रूपमें। वह पथ-प्रदर्शन करता है, कल्याण करता है। वह राग-द्वेषसे परे है। सारा मानव-समाज उसका शिष्य है। उसके कल्याणके लिये शिक्षकने जन्म लिया है। वह किसीका भाग्य बना या बिगाड़ नहीं सकता। यह उसके सामर्थ्यके बाहर है, उसका अज्ञान है, भ्रम है। हम सबके सिरपर एक महाशक्ति काम कर रही है। जिस दिन मनुष्य उसका काम स्वयं सँभालनेकी इच्छा करेगा, वह मनुष्यतासे गिर जायगा। वह महाशक्ति अपराधीको क्षमा नहीं करती।

तो परीक्षाका उद्देश्य क्या है। परीक्षाका उद्देश्य यह है कि—

(१) विद्यार्थीकी बुद्धि-गंभीरताका परिचय मिले।

(२) विद्यार्थीके अर्जित ज्ञानकी थाह लगे।

(३) अर्जित ज्ञानका प्रयोग करनेमें उसकी कुशलताका ज्ञान हो। अर्थात् उसने जो पढ़ा है वह गुना भी है या नहीं यह ज्ञात हो।

(४) आगेके पाठ-भारको वहन करनेकी उसकी योग्यताका ज्ञान हो।

(५) अर्जित ज्ञानके आधार पर उसकी मनोवृत्ति तथा जीविका-वृत्तिकी पहचान हो सके।

(६) उसकी धारणा-शक्ति या स्मरण-शक्तिका ज्ञान हो।

(७) उसकी कार्य्य-क्षमताका परिचय मिले।

उपर्युक्त उद्देश्योंकी पूर्त्तिके साधन तथा नवीन-परीक्षा-प्रणालियोंका स्वरूप बतानेसे पूर्व हम भारतीय प्राचीन-परीक्षा-प्रणालीका भी परिचय दे देना आवश्यक समझते हैं। आर्य्योंमें यह प्रथा थी और अब भी है कि अन्नप्राशन-संस्कारके समय बालककी जीविका-परीक्षा ली जाती थी। उसके सामने पुस्तक, अस्त्र-शस्त्र, कलाकौशलकी सामग्री आदि रख दी जाती थी। वह जिस वस्तुको उठाता था, वही उसकी जीविका-वृत्ति समझी जाती थी और उसीके अनुसार उसे शिक्षा दी जाती थी। इसके पश्चात् गुरुकुलमें कौशल-परीक्षा, शास्त्र-परीक्षा, शक्ति-परीक्षा, बुद्धि-परीक्षा तथा मेधा-परीक्षा हुआ करती थीं। एक बार राजा भोजने कालिदासकी बुद्धि-परीक्षा ली थी। उनके राज्यमें चार स्त्रियाँ आकर ठहरी हुई थीं और वे अपनी-अपनी जाति पूछना चाहती थीं। कालिदास छिपकर वहाँ बैठ रहे। प्रातः-काल होनेपर चारोंने सूर्योदयका वर्णन अपने-अपने ढंगसे

किया। उसे सुनकर ही कालिदासने बतला दिया कि वे क्रमशः ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या, तथा सुनारिन थीं। बुद्धि-परीक्षाके लिये सहस्रों कूट श्लोक, समस्याएँ और प्रहेलिकाएँ संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी काव्योंमें भरी पड़ी हैं। अर्जित ज्ञान तथा उसके प्रयोगकी परीक्षाके लिये गुरुकुलोंमें शास्त्रार्थ होते थे या शंकाके रूपमें प्रश्न दे दिए जाते थे। शास्त्रार्थके द्वारा विद्यार्थी अपनी श्रेष्ठता और अपना ज्ञान सिद्ध करते थे। जो शास्त्रार्थमें हार जाता था वह पुनः अपने विषयको पढ़कर पूर्ण करता था। वहाँ तैंतीस प्रतिशत ज्ञान प्राप्त करनेसे काम न चलता था, प्रत्येक विषयका ज्ञान पूर्ण होना आवश्यक था। धारणा-शक्तिके विषयमें भारतीयोंका सदासे यह मत रहा है कि मेधा या धारणा-शक्ति बढ़ाई जा सकती है। अब भी ऐसे लोग भारतमें हैं जो अष्टावधानी, दशावधानी या शतावधानी हैं। कई कार्य एक साथ होते रहें फिर भी ये सबको स्मरण रख सकते हैं। इसकी कुछ सरल साधनाएँ तथा प्रक्रियाएँ हैं जो अभ्यास करनेसे फलवती होती हैं। ऐसे लोगोंकी कथाएँ प्रसिद्ध हैं जो एक बार, दो बार, तीन बार या चार बार सुनकर एक पद्य सुना देते थे। वररुचिकी एक कथा प्रसिद्ध है कि उसकी सात लड़कियाँ थीं जो क्रमशः एकपाठी, द्विपाठी और त्रिपाठी आदि थीं।

पाश्चात्य देशवालोंने वर्त्तमान गन्दी परीक्षा-प्रणालीसे ऊबकर नई-नई प्रणालियाँ निकाली हैं जिन्हें बुद्धि-परीक्षा (इण्टैलिजैन्स टैस्ट), अर्जित ज्ञान-परीक्षा (ऐचीवमेण्ट टैस्ट)

स्मृति-परीक्षा (मैमोरी टैस्ट), प्रयोग-परीक्षा (प्रफ़ौर्मैन्स टैस्ट), आदि कहते हैं। अभी इन परीक्षा-प्रणालियोंकी भी परीक्षा हो रही है और भारतमें भी उनपर प्रयोग हो रहे हैं।

हम ऊपर परीक्षाके जिन उद्देश्योंका विवरण दे आए हैं उनका स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता नहीं है। वे तो स्वयं-सिद्ध, सर्वसम्मत और स्पष्ट हैं। हम यहाँ भाषाके अध्यापककी दृष्टिसे इस विषयकी मीमांसा कर रहे हैं अतः नीचे हम एक कक्षाके लिये प्रश्नावली देते हैं। चतुर अध्यापक इसीके आधार पर अपना मार्ग निर्धारित कर लेंगे।

१—बुद्धि परीक्षा

(क) विवेचनात्मिका शक्तिकी परीक्षा

प्रश्न—एक कवि कहता है—नीच निचाई नहिं तजै जौ पावै सतसंग।

दूसरा कवि कहता है—सठ सुधरहिं सतसंगति पाई।

इनमें कौन ठीक है। विवेचन करो।

(ख) साधारण बुद्धि-परीक्षा

प्रश्न—निम्नलिखित वक्तव्योंमेंसे जो बात ठीक हो उसपर गुणाका चिह्न लगादो।

तुलसीदासजी बड़े भारी कवि थे क्योंकि—

(अ) उन्होंने अनेक काव्य लिखे हैं।

(इ) उन्होंने अनेक ग्रन्थोंका अध्ययन किया था।

(उ) वे संस्कृत भाषाके प्रकांड पंडित थे।

(ए) उन्होंने बहुत सत्संग किया था।
(ओ) उनमें कवि-प्रतिभा थी।

२—अर्जित ज्ञानकी परीक्षा

प्रश्न—आप अपनी पुस्तकमें बिजलीसे लाभ और हानि पढ़ चुके हो। लिखो कि एक साधारण राह-चलते आदमीको बिजलीसे क्या लाभ हो रहे हैं या हो सकते हैं।

३—अर्जित ज्ञानकी प्रयोग-कुशलताकी परीक्षा

प्रश्न—'आधी तज सारीको धावै, आधी रहै न सारी पावै।' इस उक्तिका उपयोग आप अपने जीवनमें किस प्रकार कर सकते हैं या कर चुके हैं।

४—आगेका पाठ-भार-वहन करनेकी योग्यताकी परीक्षा

प्रश्न—निम्नलिखित उक्तियों तथा शब्दोंका प्रयोग करते हुए वसन्तके स्वागत पर एक निबन्ध लिखो—

बौरा जाना, हाथ कंगनको आरसी क्या, फूल उठना, बालूसे तेल निकालना, नौ दो ग्यारह होना, पासे उलटे होना, बतीसी खिल उठना, आँखें या पलकें बिछाना, दिन-रात एक करना।

रसाल, विशाल, साल, मधुमास, परभृत, निभृत, मञ्जरी, पञ्जर, पिञ्जर, द्विरेफ, अलस, उल्लास, विलसित, लसित, पराग, राग, विराग, अनुराग, परिचित, विरचित, प्रदेश, विदेश, निर्देश, उद्देश, उद्देश्य, तरल, सरल, विरल, विधि, विधान, विधाता, कूल, दुकूल, अनुकूल, प्रतिकूल, सारंग, हिंडोल, देश, मलार, ध्वनि, प्रतिध्वनि, लय, ताल, स्वर, मन्द,

सुमन्द, अमन्द, द्वन्द्व, अभ्र, शुभ्र, मान, प्रमाण, अनुमान, विमान, अवमान ।

५—अर्जित ज्ञानके आधार पर मनोवृत्तिकी परीक्षा

प्रश्न—आपकी पुस्तकमें कहीं किसानका जीवन श्रेष्ठ कहा गया है, कहीं कारीगरका, कहीं विद्वान्‌का तो कहीं देश-सेवकका । तुम इनमेंसे कौन सा जीवन श्रेष्ठ समझते हो और क्यों । उदाहरण और कारण-सहित लिखकर समझाओ ।

६—धारणा-शक्तिकी परीक्षा

प्रश्न—आपकी पुस्तकके कौन-कौनसे पाठोंमें परिश्रमकी कौन-कौनसी श्रेष्ठताएँ बतलाई गई हैं उन्हें लिखो और इस संबन्धमें आपने जो पद्य पढ़े हों उन्हें लिखकर उनकी व्याख्या करो ।

७—अर्जित ज्ञानके आधार पर अपने विचार प्रकट करनेकी क्षमताकी परीक्षा

प्रश्न—आपने इटली और आयलैंण्डकी स्वतन्त्रताका विवरण पढ़ा है । लिखिए भारत किस प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है ।

उपर्युक्त प्रश्न हमने हाइ स्कूलकी कक्षाओंको ध्यानमें रखकर दिए हैं । इस परीक्षा-प्रणालीमें विद्यार्थीकी वास्तविक परीक्षा हो जाती है । 'पूछे जानेके योग्य बातों' का भूत भाग जाता है और व्याख्या करो, अर्थ लिखो, सरल हिन्दीमें लिखो इत्यादि सब बातें निकल जाती हैं । इस प्रकारकी परीक्षासे वास्तविक भाषा-ज्ञानकी परीक्षा हो सकती है ।

२७

पाठ-सूत्रका विधान

इस प्रकरणमें नये अध्यापकोंकी सहायताके लिये नीचे गद्य, पद्य, व्याकरण, रचना, द्रुत-पाठ तथा नाटकके पाठ-सूत्र कक्षाक्रमसे दिए जाते हैं। इससे उन छात्र-शिक्षकोंको बड़ी सहायता मिलेगी जो ट्रेनिङ्ग कौलेजों तथा ट्रेनिङ्ग स्कूलोंमें भाषा-शिक्षणकी शिक्षा पा रहे हैं। इन पाठोंमें यह ध्यान रक्खा गया है कि कोई शिक्षण-विधि छूट न जाय। प्रारम्भिक कक्षाओंके लिये पाठ-सूत्र इसलिये नहीं दिए जा रहे हैं कि विषय-निरूपणके साथ-साथ पीछे उन पर पूर्ण विचार हो चुका है और उनकी व्यवस्था भी दी जा चुकी है।

द्रुत-पाठ

माननीय दादाभाई नौरोजी

श्रीयुत् दादाभाई नौरोजीने एक पारसी पुरोहित परिवारमें जन्म लिया था। बड़ी कठिनाईसे शिक्षा प्राप्त करनेके बाद बीस वर्षकी अवस्थामें ही आपको अपना विद्यार्थिजीवन समाप्त करना पड़ा। छब्बीसवें वर्षमें आपने 'रास्त गुफ़्तार' नामक पत्र निकालकर लोकसेवाका आरम्भ किया। १८५४ ईसवीमें उन्तीस वर्षकी अवस्थामें आपको बम्बईके एल्फ़िन्स्टन कौलेजमें गणितके प्रधान अध्यापकका पद मिला। कौलेजमें पढ़नेके साथ साथ आप समाजसेवा भी करते जाते थे। इसी समय आपने बम्बईमें एक कन्या-पाठशाला खोली। साहित्य और विज्ञान-सभाकी स्थापना की। इसके बाद आपने बम्बई असोसिएशन, ईरानी फ़ण्ड, पारसी-व्यायाम-गृह, पुनर्विवाह सभाओं तथा विक्टोरिया और अलबर्ट नामक अजायब-घरोंको जन्म दिया। आप कुल दो ही वर्ष कौलेजमें अध्यापक रहे।

दादाभाई जीवनमें पाँच बार विलायत गए। कोई पचास वर्षोंतक वहाँ रहे। वहाँ रहकर आपने लन्दनमें इण्डियन असोसिएशन, ईस्ट ईण्डियन असोसिएशन आदि सभाएँ स्थापित कीं। उनसे भारतका बहुत उपकार हुआ। इन्हीं सभाओं और आपके भाषणोंकी बदौलत इंग्लैण्डके लोग भारतको पहचानने लगे। बड़े प्रयत्नसे आप पार्लियामेण्टके पहले भारतीय सदस्य हुए। उसकी सदस्यताके समय

आपने भारतकी भलाईके बड़े अच्छे-अच्छे काम किए। अपने मित्र मिस्टर केन और सर वेडरबर्नकी सहायतासे आपनी पार्लियामेण्ट कमेटी बनाई। सन् १९०७ ईसवी में आप सदाके लिये भारत लौट आए।

सन् १८८६ ईसवीमें कलकत्ता कौंग्रेसके, १८९३ में लाहौर कौंग्रेसके और १९०६ में फिर कलकत्ता कौंग्रेसके आप सभापति बनाए गए। १८६९ ईसवीमें जब आप विलायतसे भारत आए तो बम्बईवालोंने आपका खूब स्वागत किया और तीस सहस्र रुपयोंकी थैली आपको भेंट की, पर त्यागी दादाभाईने उसको स्वीकार न किया और वह सारा धन देशकी भलाईमें व्यय कर दिया गया। बड़ौदाके दीवान बनकर आपने उस राज्यकी बड़ी उन्नति की और बम्बई कौर्पोरेशनके सदस्य रहते हुए आपने उसे लाखोंकी हानिसे बचाया। आपका उत्साह जवानोंको भी लज्जित करता था। दादाभाई जिस प्रकार भारतमें प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार इंग्लैण्डमें भी। विलायतके कितने बड़े बड़े लोगोंने आपकी प्रशंसा की है। नेता होनेके सभी गुण आपमें थे। आपमें देश भक्ति, स्वार्थत्याग और उत्साह कूट कूट कर भरा था।

माननीय दादाभाई नौरोजी वर्त्तमान भारतके एक महापुरुष थे। जन्मभर देशसेवा करनेवाले दादाभाईकी मृत्यु ३० जून, सन् १९१७ ईसवीको हुई। मृत्युके समय आपकी अवस्था ९२ वर्षकी थी। आपको भारतवासी बड़ी ही श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते थे। यद्यपि दादाभाईका शरीर अब इस लोकमें नहीं है पर आपका यश सदा बना रहेगा।

पाठ-सूत्र

कक्षा—५ समय—३५ मिनट

पाठ्य-विषय—द्रुतपाठ पाठ—दादाभाई नौरोजी

उद्देश्य— (१) छात्रोंको दादाभाईकी जीवनीसे परिचित कराते हुए उनके आदरणीय गुणोंका ज्ञान कराना तथा उस ज्ञानके द्वारा विद्यार्थियोंके हृदयमें उनका अनुकरण करनेकी इच्छा उत्पन्न कराना।

(२) विद्यार्थियोंको बोध-पठनमें अभ्यस्त बनाना।

प्रस्तावना— दादाभाईका चित्र दिखलाकर।

१—यह किसका चित्र है।

उद्देश्य कथन— आज हम इन महापुरुषके जीवन-वृत्तकी कुछ महत्त्वपूर्ण बातों एवं उनके अनुकरणीय गुणोंके विषयमें कुछ पढ़ेंगे।

पाठन-क्रम— १—छात्रोंद्वारा मौन-पाठ।

२—बोध परीक्षा।

३— अध्यापकद्वारा एक अनुच्छेदका आदर्श पाठ।

४-छात्रोंद्वारा एक-एक अनुच्छेदका पाठ।

बोध-परीक्षा— (१) श्री नौरोजीने शिक्षा समाप्त करके लोकसेवाके क्या-क्या काम किए।

(२) श्री नौरोजीने विलायत जाकर क्या लोकोपयोगी कार्य्य किए।

(३) भारतमें श्री नौरोजीका क्या सम्मान हुआ।

(४) श्री नौरोजी किस भाँति जीवन भर लोकोपयोगी कार्य्य करते रहे।

(५) श्री नौरोजीमें हम कौन-कौनसे अच्छे गुण पाते हैं।

प्रयोग— श्री दादाभाई नौरोजीके जीवनचरितकी आवृत्ति की जायगी और उसके आधार पर विद्यार्थियोंसे उनकी जीवनी लिखनेको दी जायगी। बादमें शुद्ध, भावपूर्ण और ललित रूपसे पढ़नेका अभ्यास कराया जायगा।

पाठ सूत्र

कक्षा—६ समय—३० मिनट

विषय— नागरी-व्याकरण

पाठ— विशेषण

पाठन-प्रणाली—परिणाम-प्रणाली

प्रस्तावना— एक लाल फूल दिखलाकर प्रश्न करेंगे—

१. यह क्या है (फूल)

२. यह कैसा है। (लाल)

(सुँघाकर) ३. सूँघनेमें कैसा है। (सुगन्धित)

४. 'लाल' और 'सुगन्धित' कहनेसे फूलके विषयमें क्या बातें जानी गईं। (उसके गुण जाने गए)

परिणाम— कुछ शब्द ऐसे होते हैं जो संज्ञाओंके गुण या उनकी विशेषताएँ बतलाते हैं। इस कारण उन

शब्दोंको विशेषण (विशेषता-बतानेवाला) कहते हैं।

अभ्यास— निम्नलिखित वाक्योंमें ऐसे शब्द ढूँढ़कर निकालो जो संज्ञाओंके गुण अर्थात् उनकी विशेषताएँ बतलाते हों—

(१) साँवले बालकने दाएँ हाथमें एक लचीली बेंत लेकर पागल कुत्तेको मारा।

(२) थोड़े समयमें ही पाँचों सवारोंने उस दुर्गम दुर्ग पर धावा बोल दिया।

(३) रंगबिरंगी तितलियाँ मनोहर फूलों पर बैठकर उनका मीठा-मीठा रस ले रही थीं।

(४) सभी गँवार अपनेको बड़ा बुद्धिमान् समझते हैं।

(५) महाराजा सगरके पराक्रमी साठ सहस्र पुत्रोंने सम्पूर्ण पृथ्वी खोज डाली किन्तु अश्वमेधका पवित्र घोड़ा हाथ न लगा।

प्रयोग— निम्नलिखित वाक्योंमें जहाँ संज्ञाएँ आई हैं उनके पहले उपयुक्त विशेषण जोड़ो—

(१) जितने — लोग होते हैं वे — लोगोंको ठगनेमें भी — संकोच नहीं करते।

(२) कुन्तीके — पुत्र थे जो परम — — — और — थे।

(३) श्रीकृष्ण और सुदामा — मित्र थे।

(क्रमशः उत्तर—झूठे, भले, कुछ, पाँच, बलवान्, धार्मिक, वीर, साहसी, परम)

गद्य-पाठ

गौतम बुद्ध

ताड़के पत्तों और भोजपत्रोंपर लिखी हुई दो पोथियाँ लङ्कासे मिली हैं। इनमें महात्मा गौतमकी बुद्धत्त्व-प्राप्तिका अत्यन्त रोचक वर्णन किया गया है। कपिलवस्तुका राज्य, वृद्ध पिता, नवपरिणीता वधू तथा सद्यःजात पुत्रका परित्याग करके गौतम घरसे निकल पड़े। इस महाभिनिष्क्रमणसे इतने स्वजनोंका मोह तोड़कर गौतमने समस्त लोकका कल्याण करना अपना धर्म समझा। विद्वान् ब्राह्मणोंसे भारतीय दर्शनोंका परिशीलन करके भी उन्हें सन्तोष न हुआ। उन्होंने समझ लिया कि वृद्धता, रोग तथा मृत्युसे पिण्ड छुड़ाना टेढ़ी खीर है। वे गयामें वट-वृक्षके नीचे तपस्या करने लगे। शरीर सूखकर काँटा हो गया। वे भूमिस्पर्श-मुद्रामें बैठे हुए थे कि सहसा उन्हें ज्ञान हुआ। तभीसे वे बुद्ध हो गए। उन्हीं बुद्धकी कल्याणमयी वाणीका प्रभाव था कि दो तीन सौ वर्षोंमें ही आधा एशिया जाग उठा। बर्बरताने मनुष्यता सीख ली। कलिङ्गके विजयी वीरको भी वहाँ रणक्षेत्रमें बुद्धकी करुण वाणी सुनाई पड़ी। बुद्ध न होते तो सम्भवतः अशोकका नाम भी मिहिरगुल और नादिरशाहके साथ ही लिया जाता।

पाठ-सूत्र

कक्षा—७ समय—३० मिनट

विषय—गद्य प्रस्तुत विषय—गौतम बुद्ध

उद्देश्य—१-छात्रोंको पाठका भाव तथा अर्थ समझनेका अभ्यास कराना।

२-गौतमके जीवनका महत्त्व बतलाना।

३-छात्रोंका शब्द-भांडार तथा सूक्ति-भांडार बढ़ाना।

४-उनका ज्ञान बढ़ाना।

प्रस्तावना—गौतम बुद्धका चित्र दिखलाकर।

उद्देश्य-कथन—आज हम लोग बुद्धके विषयमें पढ़ेंगे।

पाठ्य-क्रम—(१) अध्यापक द्वारा आदर्श पाठ तथा कक्षा द्वारा सस्वर अथवा मूक पाठ (२) बोध-परीक्षा (३) विस्तृत व्याख्या।

बोध-परीक्षा—(१) गौतम किस प्रकार बुद्ध बने।

(२) अशोक पर भगवान बुद्धका क्या प्रभाव पड़ा।

विस्तृत व्याख्या—

वस्तु	पाठन-विधि
भोजपत्र = (संस्कृत) भूर्जपत्र हिमालयमें होता है।	भोजपत्र दिखलाकर
लङ्का—एकदेश	
कपिलवस्तु — शाक्योंकी राजधानी	भारतका मानचित्र खींचकर ये स्थान दिखलाए जाएँगे
कलिङ्ग — एक देशका नाम	
गया—एक स्थानका नाम	
बुद्ध=जागा हुआ। लाक्षणिक अर्थ—ज्ञान-प्राप्त	व्युत्पत्ति-द्वारा
नव-परिणीता-वधू = नई व्याहीहुई बहू	समास-विग्रहके द्वारा
सद्यःजात = तुरत पैदा हुआ	अर्थ-कथन द्वारा
महाभिनिष्क्रमण = महा + अभिनिष्क्रमण = किसी बड़े उद्देश्यसे घरसे सदाके लिये निकल जाना।	व्याख्या-द्वारा
स्वजन = अपने कुटुम्बी	तुलना-द्वारा — पर जनसे।
दर्शन = योग, सांख्य, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा (वेदान्त)	कथन-द्वारा
परिशीलन = गम्भीर अध्ययन	अर्थ-कथन-द्वारा
टेढ़ी खीर = कठिन काम	मुहावरेकी व्याख्या कथासहित

वस्तु	ग्रहण-विधि
भूमिस्पर्श-मुद्रा = हथेली सामने करके मध्यमा उँगलीसे भूमि छूकर बैठना	अभिनय द्वारा
बर्बरता = असभ्यता	'सभ्यता'से तुलना-द्वारा
कलिंगका विजयी वीर=अशोक।	इतिहासके सहयोगसे
मिहिरगुल-(सन् ५२० से ५४२ तक) उत्तर पश्चिमीय भारतका क्रूर शासक। इसने बौद्धों पर बड़े अत्याचार किए थे।	इतिहासके सहयोगसे
नादिरशाह-ईरानका बादशाह, इसने सन् १७३९ में भारतपर आक्रमण किया और निर्दयता-के साथ लूटपाट मचाई थी।	इतिहासके सहयोगसे

विचार-विश्लेषण-(१) बुद्धने किन स्वजनोंका परित्याग किया।
(२) इस परित्यागमें क्या विशेषता थी।
(३) इनका परित्याग बुद्धने क्यों किया।
(४) बुद्धके महाभिनिष्क्रमणसे संसारका क्या कल्याण हुआ।
(५) यदि बुद्ध न होते तो अशोकका नाम मिहिरगुल और नादिरशाहके साथ क्यों लिया जाता।

आवृत्ति— (१) भगवान् बुद्धका जीवन-चरित वर्णन करो।
(२) बुद्धके उपदेशोंका क्या परिणाम हुआ।

प्रयोग—इतिहासके अध्ययन और सहयोगसे विद्यार्थी लिखें कि बुद्धका किन भारतीय शासकों पर क्या प्रभाव पड़ा।

रचना

नारियलकी आत्मकथा

कक्षा—८ समय—३५ मिनट

विषय— रचना-शिक्षण ।

पाठ— नारियलकी आत्मकथा ।

उद्देश्य— छात्रोंको शुद्ध, ललित, रोचक एवं प्रभावोत्पादक भाषामें लिखनेकी कलामें प्रवीण बनाना ।

प्रस्तावना— एक नारियल दिखलाया जायगा जिसपर मनुष्यकी आकृति बनी होगी ।
प्रश्न—इनका क्या नाम है ।
उत्तर—नारियल बाबा

उद्देश्य-कथन—आज हम लोग नारियलकी आत्मकथा सुनेंगे और लिखेंगे ।

पाठन-क्रम— (क) विद्यार्थियोंसे नारियलकी आत्मकथा प्रश्नोत्तर-प्रणाली द्वारा कहलाई जायगी । इसके पूर्व उन्हें बतला दिया जायगा कि उक्त आत्मकथामें तीन अवस्थाएँ होंगी—(१) परिचय (२) जीवन-वृत्तान्त तथा (३) उसकी व्यथा और उसका अनुरोध । छात्रोंको उत्तम पुरुषमें उत्तर देने होंगे ।
(ख) प्रत्येक वृत्त श्याम-पट्ट पर लिख दिया जायगा । छात्र इन्हें रचना-पुस्तिका पर बाईं ओर लिखते चलेंगे ।

विस्तार—

ज्ञातव्य वस्तु	प्रश्नावली
१. परिचय—	
समुद्रके निकटके प्रदेशोंमें, हरेभरे कुटुंबियोंके बीच।	इनका वासस्थान कहाँ है।
खोपड़ी, जटा आँख आदि।	इनके शरीरका वर्णन करो।
कोमल, निर्मल और सरस।	इनका हृदय कैसा है।
२. जीवन-वृत्तान्त—	
(क) उत्पत्ति-स्थान ऊँचा खंभा, कुटुम्बियों के बीच।	इनकी जीवनी संक्षेपमें बताओ
(ख) बाल्य-स्थिति एवं विकास।	
(ग) लोगोंका आ-आकर घूरना।	
(घ) वृक्षसे वियोग।	
(च) अन्य भाइयोंके साथ बोरोंमें भरा जाना और यात्रा।	
(छ) काशीमें पहुँचना।	
(ज) काशीमें अन्य साथियोंकी दुर्दशा।	
३. व्यथा और अनुरोध—	
(क) साथियोंका दुःख और उनके साथ होनेवाली क्रूरताकी याद एवं आनेवाले भयकी आशंका।	इनकी मुखाकृतिसे क्या भाव प्रकट हो रहा है।

ज्ञातव्य वस्तु	प्रश्नावली
(ख) जटासे रस्सी, पत्तोंसे झोपड़ीका छप्पर, पत्तेकी धज्जीका पखा तथा झाड़ू, गरीका तेल और बरफी तथा पानके पत्तेके साथ चर्वण।	लोग इनके साथ क्या क्रूरता करते हैं।
(ग) निरपराध और परोपकारीके ऊपर होनेवाली क्रूरताओंसे रक्षा और न्याय।	इनकी क्या प्रार्थना है।

आवृत्ति— छात्रोंद्वारा वर्णन-प्रणालीसे संक्षेपतः तथा खण्डशः उत्तम पुरुषमें आवृत्ति कराई जायगी।

प्रयोग— नारियलकी आत्म-कथा लिखनेको दी जायगी।

पद्य-पाठ

कौशल्याका पुत्र-स्नेह

औधमें निसदिन अधिक अँधेरो।
बढ़े जात ज्यौं ज्यौं रबि-कुल-रबि त्यौं त्यौं घटत उजेरो॥
लखनलाल आँखिनको तारो औ ससि-बदनी सीता।
अवध-अकास-बास तजि अथए हौं तम लखि अति भीता॥
इहि घट जरत बरत आँवाँलौं लहि सुत-बिरह-दवागी।
मंजारी-सिसु-सम तउ आसा जियत राम-मुख लागी॥
पति न मरत सुत बन न सिधारत जीवन होत न भारू।
रखतिउँ सुतहिं सुसील उदरमैं होतिउँ जौ कंगारू॥
"रुद्र" समुद्र समान निसामैं प्रान चोर लौं परिहैं।
ह्वैहै कौन सुदिन तीनौं जब चरन-किरन इत धरिहैं॥

पाठ-सूत्र

कक्षा —६ समय—४० मिनट

विषय तथा पाठ—हिन्दी पद्य (कौशल्याका पुत्रस्नेह)

प्रणाली—व्याख्या-प्रणाली।

मुख्य उद्देश्य—कविताके प्रति विद्यार्थियोंकी रुचि बढ़ाते हुए उन्हें सन्तानकी ममताका भाव समझाना।

प्रस्तावना—(१) रामको वनवास क्यों दिया गया था।
(२) उनकी माताने उन्हें क्यों नहीं रोका।

उद्देश्य-कथन—आज हम एक ऐसा पद पढ़ेंगे जिसमें रामके वनवासके पश्चात् माता कौशल्याके दुःखका वर्णन है।

विषय-प्रवेश—(१) अध्यापकद्वारा आदर्श पाठ।
(२) कक्षाद्वारा सस्वर तथा सुस्वर पाठ।

बोध-परीक्षा—(१) अवधमें कौशल्याजीको अन्धकार क्यों प्रतीत हो रहा है।
(२) उनके मतसे वहाँ सुदिन होनेकी आशा कब की जा सकती है।

आत्मीकरण—(क) विस्तृत व्याख्या—

वस्तु	पाठन-विधि
औघ—(संस्कृत) अयोध्या = अवध—कोशलकी राजधानी-का नाम तथा एक प्राचीन नगरी।	अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची ह्यवन्तिका। पुरी द्वारावती चैव सप्तैते पुरयः स्मृताः॥ प्रश्न—अयोध्या कहाँ है। (भारतके मानचित्रमें दिखलाकर)
रबि-कुल-रबि = सूर्य्यकुल के सूर्य्य—श्रीरामचन्द्र।	समास-विग्रह और व्युत्पत्ति-द्वारा।
आँखिनको तारो = मुहावरा—आँखका तारा अर्थात् अत्यन्त प्यारा।	तुलना करो— प्रियपति ! वह मेरा प्राण-प्यारा कहाँ है। दुख-जल-निधि-डूबी— का सहारा कहाँ है। लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ। वह हृदय हमारा नैन-तारा कहाँ है। (प्रिय-प्रवास)
अवध-अकास-बास = अवध रूपी आकाशका निवास।	प्रश्न-द्वारा—(१) चंद्र, सूर्य्य और तारे कहाँ रहते हैं। (२) अयोध्यारूपी आकाशसे कौन लोग गए।

वस्तु	पाठन-विधि
अथए=(संस्कृत) अस्त—अर्थात् चले गए हैं ।	व्युत्पत्तिद्वारा
घट=घड़ा । लाक्षणिक अर्थ—शरीर तथा हृदय ।	व्याख्या तथा उदाहरण—घट घट व्यापक राम जप रे ।
आँवाँ=मट्टीके बर्त्तन पकानेकी भट्टी ।	चित्र बनाकर
विरह—दवागी = विरहकी दावाग्नि (बनमें जलनेवाली आग)	अर्थ-कथनद्वारा
मंजारी-सिसु = (संस्कृत) मार्जारी-शिशु—बिल्लीका बच्चा।	व्युत्पत्ति, पर्याय तथा समासके द्वारा
मंजारी-सिसु-सम······ ······ राममुख लागी । बिल्लीके बच्चेके समान आशा-सहित रामका मुख देखनेके लिये जीवित है ।	प्रह्लाद और कुम्हारिनकी कथा-द्वारा । यह कथा भागवतमें नहीं है । पं० राधेश्यामने अपने 'परमभक्त प्रह्लाद' नाटकमें यह कथा जोड़ दी है।
आसा जियत=अब भी राम-दर्शनकी आशा है ।	व्याख्याद्वारा
सुसील=(संस्कृत) सुशील=शीलवान्, भला ।	उदाहरण-भले आदमी सुशील होते हैं, बुरे आदमी दुःशील । मालवीयजी सुशील हैं, सबसे अच्छा व्यवहार करते हैं ।
उदर=पेट ।	पर्यायद्वारा

वस्तु	पाठन-विधि
कंगारू = ऑस्ट्रेलियाका पशु-विशेष । वह भय आने पर अपने बच्चेको पेटकी थैलीमें रखकर भाग खड़ा होता है ।	मूर्त्ति या चित्र दिखलाकर सूचना— यह उपमा भारतीय नहीं है और कवियों द्वारा अभी तक प्रयोग नहीं की गई है।
समुद्र-समान निशा = गंभीर, न कटनेवाली रात ।	कल्पनाको उद्बोधित करके
प्रान चोरलौं परिहैं = प्राण चोरकी तरह व्याकुल तथा भयभीत रहेंगे ।	व्याख्या द्वारा

(ख) विचार-विश्लेषण—

(१) ज्यों-ज्यों रामचन्द्रजी वनकी ओर बढ़े जा रहे हैं त्यों-त्यों उन्हें अन्धकार क्यों जान पड़ रहा है।

(२) कौशल्या माताको शरीर जलता सा क्यों जान पड़ता है ।

(३) उन्होंने कंगारू होनेकी इच्छा क्यों प्रकट की।

पुनरावृत्ति—(१) आशाकी तुलना बिल्लीके बच्चेसे क्यों की गई ।

(२) समुद्रसे रात्रिकी समानता किस आधार पर की गई है ।

प्रयोग—इस पाठके आधार पर कृष्ण-वियोगसे दुःखी यशोदाकी व्यथा वर्णन करो ।

एकांकी नाटक

'पन्ना'

स्थान—मेवाड़का राजमहल

समय—रात्रिका दूसरा प्रहर

(पन्ना एक ओर चटाई पर बैठी है। उसके एक ओर पलँग पर छः वर्षके राजकुमार उदयसिंह और दूसरी ओर पृथ्वीपर उसका पुत्र बप्पा लेटा है।)

पन्ना—(बच्चोंसे) राजकुमार। बप्पा। हैं। दोनों सो गए।

इतनेमें बाहर कुछ शोर होता है। पन्ना उठकर खिड़कीमेंसे झाँकती है। इतनेमें हाँफते हुए नाईका प्रवेश)

नाई—पन्ना। भागो। जल्दी भागो बच्चोंको लेकर।

पन्ना—क्यों। क्यों। क्या हुआ।

नाई—हुआ क्या। बनवीरने महलके फाटक तोड़ डाले हैं और यहाँ आने ही वाला है।

पन्ना—महलके चौकीदार कहाँ गए।

नाई—पकडकर मार डाले गए। (फिर कोलाहल होता है।)

(नेपथ्यमें)—राणा बनवीरसिंहकी जय।

पन्ना—बनवीरसिंहकी जय ! इसका क्या अर्थ है। कुछ समझते हो बारी।

नाई—मैं समझता हूँ पन्ना। राजकुमारके प्राण संकटमें हैं।

पन्ना—मेरे प्राण रहते राजकुमारपर कोई संकट नहीं आ सकता। (ऊपर हाथ जोड़कर) भगवती। अब तुम्हीं सहायक हो। (नाईसे) समझ गई। एक काम कर सकोगे बारी।

नाई—क्या पन्ना।

पन्ना—शपथ खाओ कि तुम प्राण देकर भी राजकुमारकी रक्षा करोगे।

नाई—भगवान् एकलिंगकी सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि राजकुमारकी रक्षाके लिये प्राण तक दे दूँगा।

पन्ना—तो यह लो तलवार (तलवार देती है) तुम आधी घड़ी तक बनवीरको रोक रक्खो। आगे मैं देख लूँगी।

नाई—और राजकुमार।

पन्ना—चिन्ता मत करो मैं सब प्रबन्ध कर लूँगी।

नाई—अच्छा जाता हूँ (प्रस्थान। पन्ना शीघ्रतासे राजकुमारके वस्त्र लेकर बप्पाको पहनाती है फिर उदयसिंहको उठाकर चटाई पर लिटा देती है और कंबल उढ़ा देती है। अपने लड़केको जगाती है।)

बप्पा—(चौंककर) क्या है अम्मा।

पन्ना—बेटा तुम्हारी आज परीक्षा है। तुम्हें आज ही अपने राणाकी रक्षाके लिये प्राण देने होंगे।

बप्पा—मैं तैयार हूँ अम्माँ। क्या करूँ।

पन्ना—तुम राजकुमारके कपड़े पहनकर झटपट उस पलँग पर चुपचाप लेट जाओ। जल्दी करो।

बप्पा—समझ गया अम्माँ। महाराणाकी जय हो।

(बप्पा पलँगपर दुशाला ओढ़कर लेट जाता है। पन्ना दीएके पास जाकर घुटने टेक कर आँख मूँदकर हाथ जोड़ती है)

पन्ना—भगवती। मैं तुम्हारी पुत्री हूँ। मैं परीक्षासे नहीं घबराती। आवे बनवीर। माँ भगवती। मैं दृढ़ हूँ।

(दीएके प्रकाशमें पन्ना बड़े गर्व, उत्साह और जोशमें खड़ी हो

जाती है। इतनेमें भड़भड़ करके किवाड़ टूटते हैं। बनवीरका तलवार खींचे हुए दो सिपाहियोंके साथ प्रवेश)

बनवीर—पन्ना।

पन्ना—आओ बैठो बनवीर। आज तुम्हारे हाथमें खुली तलवार कैसे है। क्या किसी बाहरी शत्रुने चढ़ाई की है।

बनवीर—बाहरी शत्रुओंसे मैं नहीं डरता पन्ना।

पन्ना—तो।

बनवीर—यहाँ जो भीतरी शत्रु हैं उनका रक्त पीनेके लिये मेरी तलवार व्याकुल थी। आज उसीकी प्यास बुझाने आया हूँ।

पन्ना—तलवारकी प्यास तो ऐसे नहीं बुझती बेटा। उसके लिये पहले अपना रक्त देनेकी तैयारी करनी पड़ती है।

बनवीर—मैं यह प्रथा उलट देना चाहता हूँ पन्ना।

पन्ना—तो इस महलमें तुम्हारा कोई शत्रु नहीं है बनवीर।

बनवीर—आज नहीं है लेकिन कल हो सकता है। मैं सदाके लिये काँटा निकाल देना चाहता हूँ। मैं साँपके बच्चेको दूध पिलाकर नहीं पालना चाहता।

पन्ना—जान पड़ता है कि अमृतके कलशमें तुम्हें भी कुछ भाग मिला है।

बनवीर—मैं यह सब सुनने नहीं आया हूँ।

पन्ना—क्या मैं तुम्हारे भावी शत्रुका नाम पूछ सकती हूँ।

बनवीर—हाँ। वह जो पलँगपर सोता है वही मेरा शत्रु है।

पन्ना—तुम्हारी भूल है बनवीर। मैं क्षत्राणी सत्य कहती हूँ कि उस पलँगपर सोनेवाला भोला बालक तुम्हारे राज्यको नहीं लेना चाहता। उसे भला तुम्हारे राज-काजसे क्या लेना।

बनवीर—आजका भोला बालक कल चतुर युवक हो जायगा। मैं उसी युवकसे डरता हूँ और इसीलिये उसकी जवानीको इस महलमें घुसनेसे पहले ही तलवारसे रोक देना चाहता हूँ। (सिपाहियोंसे) इधरसे मशहरी उठाओ। (सिपाही मशहरी उठाते हैं। बनवीर सोते बप्पाको देखता है।)

पन्ना—बनवीर ! क्या तुम्हारे हृदयमें दया और क्षमा दोनों नहीं हैं।

बनवीर—मैं आजके लिये दया और क्षमाको महलके बाहर छोड़ आया हूँ। जब यहाँसे जाऊँगा तो फिर उन्हें अपने साथ ले लूँगा।

पन्ना—तो निष्ठुर-हृदय। महाराणा विक्रमाजित-सिंहजीकी भी हत्या तूने ही की है।

बनवीर—(कुछ घबराकर) नहीं। तुमसे किसने कहा।

पन्ना—मुझसे कहा तुम्हारे मुखने, तुम्हारी आकृतिने, तुम्हारे स्वार्थने। पाप हृदयमें नहीं छिपा रह सकता बनवीर। वह मुख पर स्पष्ट प्रकट हो जाता है।

बनवीर—अच्छा यही सही। मेरी यही इच्छा है।

पन्ना—तो निर्दयी। कर ले हत्या। यही हत्या तेरे सिरपर चढ़कर तेरे प्राण लेगी।

बनवीर—(हँसता है) मैं शापसे नहीं डरता। देख अपने राजकुमारका अन्त। (बप्पापर तलवार चलाता है। एक हल्की सी गूँ गूँ के बाद सब समाप्त। पन्ना दीएकी लौके पास स्तब्ध खड़ी रह जाती है। बनवीर और सिपाही चले जाते हैं। पन्ना धीरे धीरे आगे बढ़ती है और मृत पुत्रके गाल चूमकर गम्भीरतासे कहती है)

पन्ना—बेटा, तुम धन्य हो। तुमने अपने जीवनको सफल कर लिया। तुमने अपने प्राण देकर मेवाड़के राणाकी रक्षा की है। मेरे दूधकी लाज रख ली। तुमने अपनी मृत्युसे दिखला दिया कि क्षत्रियका बेटा यदि खाटपर भी मरता है तो अपने कर्त्तव्यके लिये ही मरता है।

(धीरे धीरे उठकर राजकुमारको उठाती है और कुछ भावमय होकर कहती है।

पन्ना—मेवाड़के राणाकी जय।

(यवनिका पतन)

कक्षा—१०　　　　समय—४० मिनट

पाठ्य विषय—	एकांकी नाटक (पन्ना)
उद्देश्य—	भाषाका ज्ञान बढ़ाते हुए विभिन्न प्रकारके मनुष्योंका मनोवैज्ञानिक अध्ययन कराना तथा बालकोंमें वीरता और कर्त्तव्य-शीलताका भाव भरना।
मुख्य उद्देश्य—	पन्नाकी स्वामिभक्तिका अनुभव कराते हुए मोह पर कर्त्तव्यकी विजयका औचित्य तथा महत्त्व समझाना।
पाठ्य-क्रम—	(१) विद्यार्थियोंके द्वारा मौन पाठ (२) आदर्श नाट्य प्रणालीसे अध्यापकद्वारा पाठ (३) कक्षाभिनय प्रणालीके द्वारा पाठ। (४) व्याख्या प्रणालीसे प्रश्नोत्तर (५) पुनरावृत्ति (६) प्रयोग

मौनपाठ— विद्यार्थी प्रायः ७ मिनट तक ध्यान-पूर्वक मौन पाठ करेंगे।

आदर्श नाट्यप्रणाली—अब विद्यार्थी पुस्तक बन्द कर देंगे और अध्यापक स्वयं सभी पात्रोंका वाचिक और आंगिक अभिनय करते हुए ८ मिनट तक नाटकका पाठ करेंगे।

कक्षाभिनय प्रणाली— पन्ना, बनवीर और नाई आदिकी भूमिकामें विद्यार्थी खड़े होकर नाटकका साभिनय पाठ करेंगे।

व्याख्या—

(१) चरित्र-व्याख्या—

प्रश्न—पन्नाके चरित्रमें क्या विशेषताएँ मिलती हैं।

उत्तर—माता होकर भी कर्त्तव्यके लिये पुत्रकी ममताका त्याग, स्वामिभक्ति, दृढ़ता, उत्साह और तेज।

प्रश्न—बप्पाके चरित्रसे क्या बात जान पड़ती है।

उत्तर—कर्त्तव्यशील माताका पुत्र भी कर्त्तव्यको पहचानता है। क्षत्रियका बालक बचपनमें भी मृत्युसे नहीं डरता। वह साहसी, उत्साही और वीर है।

प्रश्न—नाईका चरित्र किस प्रकारका है।

उत्तर—वह स्वामिभक्त है।

प्रश्न—बनवीर किस प्रकारका व्यक्ति है।

उत्तर—अधम, स्वार्थी, निर्दय, कायर, हत्यारा तथा राजमदमें अंधा।

(२) कथा-व्याख्या—

प्रश्न—नाटककारने ऐतिहासिक घटनामें क्या परिवर्त्तन किया है।

उत्तर—ऐतिहासिक घटनाके अनुसार सोते हुए बप्पाको ही बनवीरने मार डाला था।

प्रश्न—नाटककारने यह परिवर्त्तन क्यों किया।

उत्तर—यदि सोते हुए बप्पाका मारा जाना दिखाया जाता तो इसमें बप्पाके चरित्रका और उसकी वीरताका कोई महत्त्व न होता। जानबूझकर मौतसे खेलना बड़ी भारी वीरता है, फिर बप्पा जैसे कच्ची अवस्थाके बालकके लिये तो यह और अधिक प्रशंसात्मक है।

(३) संवाद-व्याख्या—

प्रश्न—पन्नाने कहा है कि 'आज तुम्हारे हाथमें खुली हुई तलवार कैसे है। क्या किसी बाहरी शत्रुने चढ़ाई की है।' इसमें क्या व्यंग्य है।

उत्तर—पन्ना इस प्रश्न द्वारा यह समझाना चाहती है कि इस तलवारका प्रयोग बाहरी शत्रुओं पर ही करना चाहिए। घरवालों पर तलवार उठाना उचित नहीं है।

प्रश्न—बनवीर उत्तर देता है कि 'यहाँ जो भीतरी शत्रु हैं उनका रक्त पीनेको मेरी तलवार व्याकुल थी उसीकी प्यास बुझाने आया हूँ।' इस कथनसे उसका क्या उद्देश्य है।

उत्तर—वह सकेतसे ही कह देना चाहता है कि उदय-सिंह मेरा शत्रु है। मैं उसे मार डालना चाहता हूँ।

प्रश्न—यह सुन और समझकर भी पन्नाने वाद-विवाद क्यों किया।

उत्तर—उसे आशा थी कि संभवतः बनवीरका हृदय बदल जाय।

प्रश्न—पन्नाके इस कथनका क्या महत्व है कि जान पड़ता है कि अमृतकलशमेंसे तुम्हें भी कुछ भाग मिला है।

उत्तर—वह यह सुझाना चाहती है कि तुम अमर नहीं हो, तुम्हारी मृत्यु भी निश्चित है। इसलिये बालककी हत्या न करो।

प्रश्न—पन्नाके यह कहने पर भी बनवीरने उसका विश्वास क्यों नहीं किया कि 'उस पलँगपर सोनेवाला भोला बालक तुम्हारे राज्यको नहीं लेना चाहता।

उत्तर—नाटककार यह प्रदर्शित करना चाहता है कि बनवीर मदमत्त था। उसे भले-बुरेका कुछ भी ज्ञान न था।

प्रश्न—महाराणा विक्रमाजीतसिंहकी भी हत्या तूने ही की है। यह सुनकर बनवीर घबरा क्यों गया।

उत्तर—क्योंकि हत्या सिर चढ़कर बोलती है।

(४) रस-व्याख्या—

प्रश्न—इसको पढ़कर तुम्हारे मनमें कौनसा भाव पैदा होता है।

उत्तर—वीरताका।

प्रश्न—किन पात्रोंके कारण वीरताका भाव प्रकट होता है।

उत्तर—पन्ना और बप्पाके कारण।

पुनरावृत्ति—(१) बनवीर और पन्नाके चरित्रकी तुलना करो।
(२) नाईने उदयसिंहकी रक्षामें क्या भाग लिया।
(३) यदि बप्पाके स्थानपर तुम होते तो क्या करते और क्यों।

प्रयोग— इस एकांकी नाटकको कथाके रूपमें इस प्रकार लिखो कि उसका प्रभाव बना रहे।

॥ इति ॥